अशोक वाजपेयी की कविता में प्रेम की परिकल्पना

('थोड़ी सी जगह' के संदर्भ में)

(एम. फिल. उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध)

शोध निर्देशक
प्रो. केदारनाथ सिंह

शोध–छात्र
परितोष कुमार मणि

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067
1997

सादर,

अम्मा-बाबा और भइया को
जिन्होंने जीवन दिया
और
दृष्टि भी .....

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110 067

दिनांक...17. जुलाई. 1997

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री परितोष कुमार मणि द्वारा प्रस्तुत "अशोक वाजपेयी की कविताओं में प्रेम की परिकल्पना (थोड़ी सी जगह के संदर्भ में)" शीर्षक लघु शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इसके पूर्व इस विश्वविद्यालय या अन्य किसी संस्थान में, किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है । यह श्री परितोष कुमार मणि की मौलिक कृति है ।

(प्रो. मैनेजर पाण्डेय)
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110 067

(प्रो. केदारनाथ सिंह)
शोध - निदेशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली- 110 067

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना		अ - ई
अध्याय-एक	आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम की परंपरा	1 - 17
अध्याय-दो	अशोक वाजपेयी की प्रेम कविता : विविध प्रवृत्तियां	18 - 58
	(खण्ड-क : प्रेम में देह का उत्सव	
	खण्ड-ख : प्रेम में प्रकृति का वैभव	
अध्याय-तीन	'थोड़ी सी जगह' के बहाने अशोक वाजपेयी की प्रेम दृष्टि की विवेचना	59 - 100
	खण्ड-क : प्रेम की संवेदना	
	खण्ड-ख : प्रेम की परिकल्पना	
अध्याय-चार	'थोड़ी सी जगह' का शिल्प सौन्दर्य	101 - 145
	शब्द विधान	
	भाषा	
	बिंब	
	प्रतीक	
	अप्रस्तुत विधान	
	छंद और लय	
	वैन्दिकता	
परिशिष्ट :	साक्षात्कार	146 - 162
	उद्धृत काव्य	163 - 164
	ग्रंथानुक्रमणिका	165 - 169

प्रस्तावना

भारतीय मनीषा ने प्रेम को सदैव एक महत्वपूर्ण आत्मिक अनुभव के रूप में ग्रहण किया । उसे अनिर्वचनीय ठहराने की चेष्टा वैदिक युग से आज तक होती आयी है । वास्तव में प्रेम की कोई निश्चित परिभाषा देना अत्यंत कठिन है, शताब्दियों से प्रेम को ठीक-ठीक रूप में परिभाषित करना कभी संभव नहीं रहा - क्योंकि प्रेम अपनी व्यापकता में किसी परिभाषा के निश्चित दायरे में कभी नहीं बंध पाया । फिर भी उसके व्यवहारिक रूप के आधार पर प्रेम को समझने का प्रयास निरन्तर किया जाता रहा है । तदनुसार - `प्रेम` शब्द का अभिप्राय साधारणत: उस मनोवृत्ति से लिया जाता है जो किसी व्यक्ति की, दूसरे के सम्बन्ध में, उसके रूप, गुण, स्वभाव, सानिध्य आदि के कारण उत्पन्न, कोई सुखद अनुभूति सूचित करती हो तथा जिसमें उस दूसरे के हित की कामना भी बनी रहती हो । हमारे साधारण दैनिक अनुभवों में प्रेम का उक्त व्यक्तिपरक रूप ही अधिक स्पष्ट एवं उल्लेखनीय रहा करता है ।

प्रेम भाव के अंतर्गत राग की वह प्रवृत्ति रहा करती है, जो किसी अन्य व्यक्ति की ओर आकृष्ट होती रहती है तथा सदैव अप्रतिहत और अबाधित रूप में प्रवाहित होने की चेष्टा करती है । इसका कारण एक रूप उस वासना में भी लक्षित होता है जिसे सामान्यत: `काम` की संज्ञा दी गयी है और जिसे प्राय: सभी देश तथा काल के लोगों ने सृष्टि के उद्भव एवं विकास की मूल प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है । भारतीय वैदिक साहित्य में `काम` और `प्रेम` की पृथक् अभिव्यंजना की गयी है, इस आधार पर कि काम भावना जहां स्थूल शरीरादि से संबंधित होती है, वहीं प्रेम की प्रक्रिया मानसिक अथवा हृदयपरक है । परन्तु वास्तव में प्रेम की ही अंतिम स्थिति `काम` की है, अथवा काम को प्रेम का रूप तभी दिया जा सकता है जब उसमें आमूल परिवर्तन करके उसके अधिक से अधिक व्यापक और उदार बना दिया जाये ।

`काम` शब्द पहले प्रेम का ही वैदिक रूप था । वेदों में इसका प्रयोग अधिकांशत: कामना के रूप में हुआ है, इसीलिए 'पूर्ण कामना मुक्त` पुरुष को `निष्काम` भी कहा गया है । `कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेत: प्रथमं यदासीत्` में काम उस व्यापक अर्थ का ही बोधक है । परवर्ती काल में काम की व्यापकता अत्यंत संकीर्ण हुई और वह भोग विलास का साधन मात्र रह गया ।

`ज्ञान सागर` में कहा गया है कि सृष्टि के पहले परमात्मा अपनी अद्वयता के कारण, आत्म प्रेम में ही लीन था, किन्तु उस प्रेम को बाह्य रूप में अनुभव करने की इच्छा से उसने `असत्` से `सत्` उत्पन्न किया और अपने प्रतीक रूप में मनुष्य की सृष्टि की । विश्व में जो कुछ भी नियम एवं सुव्यवस्था का परिणाम दिख रहा है, वह मूलत: प्रेम के ही कारण है । आकाश के जितने भी नक्षत्र मण्डल हैं, वे सभी इस प्रेम के ही किसी अपूर्व आकर्षण द्वारा बद्ध और संचालित हैं ।

प्रेम की इसी महिमा और विराटता के प्रति मेरी जिज्ञासा प्रारंभ से ही रही और यही जिज्ञासा इस कार्य की मूल प्रेरणा में रूपान्तरित हुई। अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं को अपनी इसी जिज्ञासा के समाधान के लिए चुनते समय `प्रेम के ऐन्द्रिक अनुभवों से रचित एक व्यापक आख्यान` की बात मस्तिष्क में बराबर तैरती रही थी । इन कविताओं में प्रेम के, रति के जिन सूक्ष्म सौन्दर्य बोधों के स्तर खुलते गये हैं और जिनसे मैं निरन्तर गुजरता रहा, कदाचित् उसने मन में उठे एक रहस्यमय अनुभव की आवृत्ति को लगभग समाप्त कर दिया - अत: इस कार्य को करते हुए एक सुखद संतोष का अनुभव है ।

प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध में कुल चार अध्याय आए हैं । प्रथम अध्याय में, हिन्दी कविता में प्रेम की जो परम्परा प्राप्त होती है, उसका स्वरूप बदलते हुए प्रतिमानों के बीच क्या है, एवं अशोक वाजपेयी इस परम्परा में कहां तक बैठते हैं, इसका अध्ययन किया गया है ।

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताएं व्यापक अनुभवों का एक समग्र संसार लिए चलती हैं, जिसमें प्रेम है, दैहिक सौन्दर्य है, रति है और प्रकृति के अपूर्व रमणीय दृश्यों का विधान है । दूसरे अध्याय के अन्तर्गत इन प्रेम कविताओं की कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियां देह-राग एवं प्रकृति-राग का अनुशीलन है ।

तीसरे अध्याय में 'थोड़ी सी जगह' की प्रेम संवेदना और संवेदना के कलात्मक धरातल को प्रस्तुत करने का प्रयास है । इसके अतिरिक्त अशोक की कविताओं में प्रेम जिस परिकल्पना में उत्पन्न एवं परिपक्व होता है, उसका भी एक चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका विशिष्ट शिल्प-विधान है । भाषा से लेकर ऐन्द्रिकता तक के विधानों में ये कविताएं कितनी दूर जाती हैं, इनकी विशिष्टता के कारणों पर प्रकाश डाला गया है । चौथे एवं अंतिम अध्याय में कविताओं की इसी विशिष्ट शिल्प-विधान की खोज की गयी है । इसके अतिरिक्त अंत में परिशिष्ट में अशोक वाजपेयी का एक साक्षात्कार प्रस्तुत किया गया है, जिसमें कार्य करने के दौरान मन में उभरे विभिन्न प्रश्नों पर उनका उत्तर है ।

इस लघु शोध प्रबन्ध के प्रारंभ होने से लेकर अब संपूर्ण होने की प्रक्रिया में विभिन्न व्यक्तियों से दिशा-निर्देश प्राप्त होते रहे । शोध निर्देशक डा० केदारनाथ सिंह के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं, जिन्होंने इस विषय पर कार्य करने की अनुमति प्रदान की और समय समय पर अपने बहुमूल्य रायों से इसे विश्लेषणीय बनाने के अपने दायित्वों का निर्वाह करते रहे । अग्रज बन्धु श्री ज्योतिष जोशी ने इस कार्य को अपना निजी कार्य समझ कर पूरी जिम्मेदारी के साथ एक सिरे से इसके अध्यायों कोजांचा-परखा तथा समय-समय पर इस पर चर्चाएं कीं । अगर वह न होते तो यह कार्य शायद इस रूप में नहीं आ पाता । इस शोध प्रबन्ध के पूरा होने का

सबसे अधिक सुख उन्हीं को होगा । मैं उनका अत्यंत आभारी हूं । साथ ही जे. एन. यू. का प्यारा कैम्पस और इसके सृजनात्मक वातावरण से भी मुझे ऊर्जा प्राप्त होती रही ।

मेरे अभिन्न मित्रों में अरुणादेव, सुशील कृष्ण गौरे, दिलीप कुमार गुप्त ने सदैव मुझे उत्साहित किया और मेरे आत्मविश्वास को मजबूत बनाया। इसके अतिरिक्त चंद्रशेखर रावल, स्वतंत्र कुमार जैन, मीना गौतम, पूनम, सुरेखा तथा संतोष कुमार पाण्डेय आदि निकटस्थ मित्रों की डॉट-डपट, स्नेह-प्यार के बीच यह कार्य होता गया । इनमें से किसी को भी धन्यवाद की आवश्यकता नहीं होगी - क्योंकि ये सभी `अपने` हैं और अपनों के बीच धन्यवाद जैसे औपचारिक शब्द का क्या काम ?

घर से बहुत दूर आकर इस कार्य को पूरा करने के दौरान घर की आत्मीय उपस्थिति सदैव साथ रही । दादा-दादी, पिता(डा० अरुणेश नीरन) तथा अन्य सदस्य सदैव साथ-साथ रहे । छोटे भाईयों आशुतोष, जनमेजय, एवं चि० रजत से बहुत स्नेह मिला, जिसने कार्य करने की शक्ति दी ।

यद्यपि प्रेम कविताओं जैसे विषय पर अपेक्षाकृत काम कम हुआ है, फिर भी अपनी क्षमता से यह कार्य करने का प्रयास किया है । अगर इसमें सचमुच `कुछ` सार्थक बन पाया हो तो इस प्रयास से संतोष होगा । बाकी तो विद्वजनों पर है । अस्तु !

परितोष कुमार मणि

श्रावण संक्रांति स. 2054

परितोष कुमार मणि

104, कावेरी
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

अध्याय - एक

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम की परम्परा

अध्याय - एक

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम की परम्परा

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । आधुनिक ही क्यों, अगर बहुत पीछे लौटकर जायें तो संस्कृत एवं क्लासकीय काव्य में भी प्रेम एक केन्द्रीय तत्व के रूप में उपस्थित रहा है । अशोक वाजपेयी भी प्रेम के कोई अपवाद कवि नहीं हैं । परम्परा के रूप में वे अज्ञेय के बहुत नजदीक उपस्थित हैं और आधुनिक कविता में छायावाद से प्रेम की एक भावप्रवण परम्परा की शुरुआत होती है । उसके पूर्व का प्रेम काव्य भावना की गहरी आसक्तियों से बहुत दूर था यह तो नहीं कहा जा सकता है, फिर भी वहां काम और भोग की ही प्रधानता अधिक रही है । नायिका के अंगों का स्थूल वर्णन प्रेम की चाशनी में लपेट कर परोसना ही कविता का मुख्य धर्म बन गया था । द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता के फलस्वरूप और अति नैतिकता के आग्रहों के बोझ से जब नए कवियों का दम घुटने लगा तो छायावाद में भावनाओं की मुक्त उड़ान के लिए एक जमीन की तलाश हुई । उसमें न केवल परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध विचार स्वातंत्र्य की प्रेरणा थी, अपितु उसमें प्रचलित नैतिक सुधारों के प्रति शृंगारिकता का विरोध भाव भी था । इसके अलावा श्रद्धा का जो भाव उस समय देवत्व की ओर प्रदर्शित होता दीख रहा था, वह अब क्रमशः मानवत्व की ओर उन्मुख होने लगा । संक्षेप में कहें तो प्रत्येक प्रकार की रचनाओं में अब किसी-न-किसी प्रकार की सूक्ष्मता का आभास मिलने लगा और सबसे बड़ी बात यह हुई कि इतिवृत्तात्मकता से कवियों का पीछा छूटा और उसका स्थान प्रखर आत्माभिव्यक्ति ने पाया । इसका स्पष्ट प्रभाव छायावादी कवियों की प्रेमानुभूति पर पड़ा और उनके प्रेम भाव में ऐन्द्रीयता की मात्रा निरन्तर कम होती गयी । यही कारण है कि उनके लौकिक प्रेम का स्वरूप अलौकिक सा दिखने लगा और उनके अलौकिक प्रेम पर भी भाव योग का रंग चढ़ गया, जिसने उनकी वर्णन शैली में रहस्यवाद ला दिया ।

छायावाद का कवि जिन ऐतिहासिक दबावों के बीच सृजनरत था, उसका

यह स्वाभाविक परिणाम था कि प्रेम जैसा विषय उसके हृदय में सबसे करीब होते हुए भी उनके काव्य में इस प्रकार नहीं आ सकता था कि प्रेम का सवाल जीने मरने का सवाल हो जाये । गहरी राजनैतिक हलचल, बड़े सामाजिक संघर्ष और सबसे बढ़कर पुनर्जागरण की चेतना के फलस्वरूप, गहरी सांस्कृतिक चिन्तायें छायावादी काव्य की प्राथमिकतायें निर्धारित कर रही थीं । उसने प्रेम का वर्णन तो किया और खूब किया, पर उसे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रहस्यवाद के खोल में लिपटाकर उसे अलौकिक बनाकर प्रस्तुत करता रहा । अपनी वैयक्तिक प्रणयानुभूति के विभिन्न मार्मिक प्रसंगों को भी उसने एक निश्चित दूरी रखते हुए अपने काव्य में ढाला । जूही की कली, या `नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली` जैसी मांसल संभोग प्रधान कविताएं भी कवि के व्यापक अनुभव से जुड़ नहीं सकीं । इसका मुख्य कारण यही रहा कि उसने अपने स्थान पर एक पात्र उपस्थित कर उससे अपने निजी प्रेम का गान गवाया । कुल मिलाकर प्रेम की पूर्णतर अभिव्यक्ति छायावाद की उन्हीं कविताओं में अधिक हुई जिनके पात्र स्वयं कवि न होकर कोई अन्य था । जब भी उसे उत्तम पुरुष में बोलना होता था, वह या तो समूचे प्रसंग को हवाई बना डालता था या फिर घोर रहस्यमय, दोनों ही स्थितियों में उसकी अतृप्ति, विरह, अवसाद एवं मलिन झरते आंसू की माला` के रूप में प्रकट होते रहे । यह बिल्कुल सत्य है कि इन कवियों ने प्रेमानुभूति को रूढ़ि एवं शास्त्रीयता के कठोर चंगुल से मुक्त कराकर उसे भाव-प्रवणता की भूमि पर स्थापित किया, परन्तु यह भी उतना ही सही है कि तब यह प्रेम प्रेम न रहकर दर्शन में तब्दील हो गया । ऐसा युगीन सीमाओं के चलते हुआ कि उसे अपनी अनुभूति का केंचुल उतारना पड़ा । छायावाद की निर्वैयक्तिकता का आग्रह यदि स्पष्ट कहें तो एक विवशता थी । बाद में प्रयोग-वाद के दौर में अज्ञेय ने निर्वैयक्तिकता (इम्पर्सोनेलिटी) के सिद्धान्त को सचेत रूप से सब स्वीकार किया परन्तु उनकी प्रेम कविताएं इस सिद्धान्त को रचना के स्तर पर प्रतिफलित नहीं करती हैं ।

छायावादी कवियों में जयशंकर प्रसाद ऐसे कवि थे, जिन्हें प्रेम कविता का सबसे बड़ा कवि कहा जा सकता है । यों तो सूक्ष्म प्रेमानुभूति का स्पन्दन सभी छायावादियों में प्राप्त होता है, परन्तु प्रसाद प्रेम की विराटता को

कविता में प्रस्तुत करने में अग्रणी रहे । प्रसाद जी की प्रेमाभिव्यंजना में अनुभूति की सूक्ष्म भाव प्रवणता और काम-कला का विस्तृत रूप प्राप्त होता है । यद्यपि पूर्व में प्रेमाभिव्यक्ति की सूक्ष्म अनुभूतियों को उन्होंने प्रस्तुत किया था, पर उत्तर प्रसाद का प्रेम काव्य मुख्यत: काम की मनोदशाओं की व्यापकता का काव्य है । डा० नामवरसिंह `छायावाद` में लिखते हैं कि -`आरंभ में प्रसाद जी ने जो कुछ लिखा, परन्तु अंत तक जाते जाते उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन-दर्शन की प्रतिष्ठा ही `काम` की आधारशिला पर की` - ।[1] कामायनी की नायिका श्रद्धा का ही दूसरा नाम `कामायनी` है, जो वस्तुत: काम और रति की पुत्री है । प्रसाद के यहां काम सिर्फ भोग का प्रतीक बनकर नहीं आया, बल्कि `उस कामना का प्रतीक बनकर उपस्थित हुआ जो सारी संसृति का मूल कारण है और काम की रति या तृप्ति का परिणाम ही श्रद्धा का रूप ग्रहण करता है ।`[2] प्रसाद ने कामायनी में काम के अनेकश: रूप उपस्थित किए हैं, परन्तु पूरी कथा का निष्कर्ष यही आता है कि उसका वास्तविक रूप वही है जो बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा का सहयोग ग्रहण करके पहचाना जा सके । प्राचीन क्लासकीय काव्य (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि) भोग एवं काम के स्थूल समीकरणों का उदात्त काव्य था, अपनी प्रेरणा विधायनी शक्ति प्रसाद ने वहीं से प्राप्त की थी । परन्तु उसके आकार को सूक्ष्म और अनुभूति को व्यापक कर प्रसाद ने उसे सिर्फ रति के आनुषंगिक दृश्यों तक ही सीमित नहीं किया, बल्कि उसे बहुत आगे ले जाकर भव्यता, आकर्षकता और गंभीरता प्रदान की । काम की ऐसी अनुभवपरक और उदात्त अभिव्यक्ति छायावाद के किसी अन्य कवि में नहीं परिलक्षित होती है । यह कहना गलत नहीं होगा कि जहां अन्य कवि प्रकृति एवं विरह की अनुभूति के चित्रण में तत्पर रहे और रहस्यवाद के पालनों में झूलते रहे (यद्यपि प्रसाद के यहां भी रहस्यवादी स्थितियां कम नहीं हैं), वहीं प्रसाद काम एवं रति संबंधों की व्याख्या का सदैव एक नया पाठ प्रस्तुत करते रहे । डा० नामवर सिंह अपने उसी निबन्ध में लिखते हैं कि -`प्रसाद का `काम` यही नहीं कि पौराणिक काम से अधिक भव्य, उदात्त एवं आधुनिक है, बल्कि पंत के `अनंग` से कहीं अधिक व्यापक है ।`[3]

अपना फेनिल फन पटक रहा
मणियों का जाल लुटाता सा - ।[4]

प्रसाद के यहां नारी के मांसल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पूरे वेग के साथ हुई है । देखा जाये तो इस तरह का उद्दाम मांसल चित्रण छायावादी काव्य में अचानक ही प्रस्फुटित नहीं हुआ, उसके पीछे घुट रही संवेदनाओं का भी आपेक्षित प्रभाव था । जिस नैतिकता के मोह पाश में वह द्विवेदी युग से बंधे हुए, वह अचानक ही खण्ड-खण्ड हो गया, ऐसा तो कहना अनुचित होगा, (क्योंकि इस नैतिकता के आग्रह का छायावादी कवि कभी पूरी तौर पर खुल कर विद्रोह नहीं कर पाने के कारण अपने मनोभावों को गूढ़ अभिव्यक्तियों में प्रदर्शित करते रहे और इसी कारण से एक समूचा काव्य चिन्तन ही रहस्यवादी हो उठा तथा अपने वास्तविक उद्देश्य से भटक कर कहीं दूर चला गया । फिर भी इस अनावश्यक और आर्य समाजी नैतिकता की रस्सी थोड़ी ढीली अवश्य हुई । निश्चित रूप में इसका सबसे बड़ा प्रयास प्रसाद का था । काम का उद्दाम रूप वह भी अश्लीलता वर्जित - `धमनियों में वेदना सा रक्त का संचार` - या `वातचक्र समान कुछ था बांधता आवेश` ।

छायावाद में ही पहली बार यह स्पष्ट हुआ कि लौकिक और अलौकिक प्रेम के बीच में अंतर नहीं रहा । यद्यपि इसके भी अपने कुछ संकट रहे । कवि की अपनी व्यक्तिगत प्रेमानुभूति तो आत्मा की अतुल गहराइयों से निःसृत हो कर उभरती थी और अलौकिकता के चंगुल में कैद रहती थी । परन्तु जहां उसके प्रेम संवेदना के पात्र दूसरे हो जाते थे (राधा कृष्ण, शिव पार्वती), वहीं प्रेम का समुद्र स्थूल दैहिक स्तर पर हिलोरें मारने लगता था । प्रसाद के यहां ही अपने नख शिख और संयोग शृंगार वर्णन (परिरंभ कुंभ की मदिरा निश्वास मलय के झोंके) के साथ ही साथ `आंसू` का प्रणय विधान भी विराट् प्रकृति के साथ एकात्मकता स्थापित कर बैठता था ।[5] सारे नख-शिख वर्णन की कसरत के बाद कवि उसके (नायिका के) दैहिक सौन्दर्य को समग्रता में प्रस्तुत कर देता है -

चंचला स्नान कर आये
चंद्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी ।[6]

कहने का आशय यही है कि कवि कभी व्यक्तिगत प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति के मामले में इतनी स्वतंत्रता नहीं ले सका कि खुले यौन चित्रण में वह अपनी कला का प्रदर्शन कर सके ।

`कामायनी` में प्रसाद ने अपने को पौराणिक काव्यों के मिथ से अलग करने का तर्क प्रस्तुत किया है । उनका पक्ष है कि देव-सृष्टि जहां भोग विलास एवं महज भौतिक सुख-साधनों में डूबी हुई थी, वहां मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति के प्रदर्शन के लिए प्रेम करने की क्षमता का आविष्कार किया । `देव सृष्टि में जो काम था, वह मानवीय दृष्टि में अनंग होकर सूक्ष्म प्रेम में परिणत हो जाता है ।`[7] यह सही है कि प्रसाद के काव्य में प्रेम केसाथ काम का उन्मुक्त चित्रण हुआ है, पर यह भी है कि उनमें भोग जैसी स्थिति उत्पन्न नहीं होने पाती है, जिसका मूल कारण ऊपर उद्धृत किया जा चुका है ।

छायावादी कविता में प्रसाद के बाद प्रेम की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति निराला के काव्य में हुई है । निराला विद्रोही कवि थे और अपने समय की काव्य-रूढ़ियों को लगभग नकारते हुए उनको अपने तरीके से साधना निराला के काव्य की एक प्रमुख विशेषता रही है, फिर भी यह कहना अनुचित तो नहीं होगा कि प्रेम के मामले में उनके यहां भी `आत्मा की गहराइयों से उपजा हुआ नैतिक प्रेम ही है` । यद्यपि जहां जहां निराला को मौका मिला है, वह इस का फायदा उठाने से नहीं चूके हैं, फिर भी यहां वही बात घूम-फिर कर आती है कि व्यक्तिगत प्रणयानुभूति को उतनी स्वतंत्रता निराला के यहां भी नहीं प्राप्त होती है । अर्थात् व्यक्तिगत प्रेमानुभूति को काम के दरवाजे तक पहुंचाने की आवश्यकता अपने तमाम विद्रोही प्रवृत्ति के बाद भी निराला को महसूस नहीं हुई । वैयक्तिक प्रेम वहां भी दर्शन के कुहरे में गायब होता रहा । पर ऐसा नहीं कि निराला के यहां इस तरह के मांसल चित्र प्राप्त नहीं होते हैं ।

नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे, खेली होली
जागी रात सेज प्रिय पति संग, रति-स्नेह रंग घोली ।
प्रिय-कर-कठिन-उरोज-परस कस कसम मसक गयी चोली
एक-वसन-रह-गई-मंद-हस अधर दशन अनबोली ।[8]

उपरोक्त पद या `जुही की कली` ऐसी ही मांसल-संभोग प्रधान कविताएं हैं, जिसमें कवि का निज अनुभव व्याप्त नहीं है, वहां कविता का पात्र कोई और है । जब कवि की वैयक्तिक अनुभूति कविता के प्रवाह में संलग्न होती है तो `राम की शक्ति-पूजा` का `पलकों का पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन, कांपते हुए किसलय-झरते-पराग-समुदय` जैसा दृश्य उपस्थित होता है । वस्तुत: छायावादी काव्य में प्रेम की वैसी अभिव्यंजनासाकार न हो पायी, जो कि प्रेम को जीवन-संघर्ष से जोड़ कर उसे एक आत्यंतिक दिशा प्रदान कर सके । निराला के यहां भी प्रेमाभावों में यद्यपि विशिष्टता है, वहां प्रेम संबंधों और प्रेमाभावों की निजता से एक ऐसा जीवन बोध बंटता है, जिससे जीवन की प्रेमाभिव्यक्ति से सर्वथा मानवीय रिश्ते को मानवीय संस्कारों की अनिवार्यता में तलाश करने का उपक्रम है, पर अंतत: वह है दर्शन ही ।

यह सही है कि छायावाद ने प्रेम की कुछ अपनी विशेषताएं और अपने मानदण्ड निर्धारित किए । जैसे कि इन कवियों में भावोद्रेक की अद्भुत अभिव्यक्ति प्राप्त होती है । हृदय के भावों को प्रस्तुत करने में जैसे उनको महारत हासिल थी । डा० नामवर सिंह लिखते हैं कि - `छायावादी कवि की प्रणयानुभूति अनुभावों की दृष्टि से कुछ न होते हुए भी भावों की दृष्टि से समृद्ध थी । छायावादी कवि शारीरिक चेष्टाएं तो कम करता था, परन्तु अपना हृदय खोल कर रख देने में कोई कसर नहीं रखता था ।`[9] इस प्रेम ने नारी संबंधी प्राचीन काव्य धारणा को कहीं बंद करके ताला लगा दिया और स्त्री पुरुष संबंधों की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की - नारी की प्राचीन प्रतिमा के स्थान पर `दिव्य रमणी-मूर्ति ` की स्थापना हुई । छायावाद में प्रेम नारी के प्रेम संबंधों की व्याख्या तो खूब हुई, पर उस नारी के स्थान पर हाड़मांस की एक जीवित प्रतिमा देवी रूप में प्रतिस्थापित कर दी गयी, उससे चाहे उस समय के प्रेम संबंधों के संस्कार का एक नया आयाम भले खुला हो, परन्तु स्त्री, स्त्री न रहकर देवी हो उठी औरउससे प्रेम नहीं, उसकी पूजा होने लगी । उत्तर-आधुनिक साहित्य में नारी शोषण का एक रूप यह भी माना गया है कि नारी को अनावश्यक दिव्यता प्रदान कर दी जाये और उसकी अपनी मानव-सुलभ भावनाओं

को इसकी आड़ में कुचल दिया जाये । अगर साहित्य के उत्तर आधुनिक विमर्श की भाषा में कहने की छूट हो तो यह कहा जा सकता है कि छायावाद के इस अंदाज ने सदैव हाशिए पर टिकी रहने वाली नारी को केन्द्र में उपस्थित तो किया, पर उसको प्रतिमा का रूप देकर उसकी सीमायें निर्धारित कर दीं । पंत की `दवि, मां, सहचरी, प्राण` का भाव कुछ ऐसा ही रहा । चाहे छायावादी कविता हो या उत्तर छायावादी काव्य, दोनों में ही नारी (प्रेयसि) के अनेकानेक चित्र प्रदर्शित हुए और निश्चय ही रीतिकालीन नारी के स्वरूप को नकार कर नारी की नवीन ढंग की प्रतिष्ठा हुई । नारी सौन्दर्य के नवीन मानदंड विकसित किए गए पर जैसा कि नामवर सिंह कहते हैं कि `नारी सौन्दर्य अशरीरी एवं हवाई था एवं प्रेम भावना भी कल्पनावासी एवं अतृप्तिपरक थी` [10] ।

उत्तरछायावादी काव्य में भी छायावाद की ही तरह प्रेम की अत्यंत मार्मिक एवं प्रभावी अभिव्यक्ति मिलती है, परन्तु ये कवि मुख्यत: मस्ती एवं यौवन के कवि माने गये तथा इनकी प्रेमाभिव्यक्ति छायावादी काव्य की तरह कोमल, निभृत एवं सूक्ष्म नहीं है । इनका प्रेम अधिक मुखर, स्थूल एवं कोलाहलपूर्ण है । यह अवश्य है कि सामाजिक रूढ़ियों (यहां यह बताना अनुचित न होगा कि युगीन समाज में सबसे अधिक रूढ़ियां इसी दौर में प्रस्तुत हुईं, यद्यपि छायावाद रूढ़िबद्धता के विरुद्ध विद्रोह करता काव्य था) एवं बाधाओं से टकराती हुई इनकी उद्दत उदंडता ने प्रेम को भावना के मकडजाल से उबार लिया, पर अंतत: उसे शराब के प्यालों और साकी की आंख में तैरते वासना के लाल डोरों तक ही मुख्य रूप से केन्द्रित कर दिया । ये कवि स्वयं अपने सुख-दु:खों की चर्चा में लीन रहते जान पड़ते और वास्तविक संसार के सामाजिक ढांचे से कोई सरोकार न रखकर अपनी बनाई कल्पना की दुनिया में ही निमग्न रहना चाहते थे । कल्पना के झूलों में सवारी उस वक्त तक रही जब सारा विश्व एक गहरे परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था और वर्तमान कालीन जीवन अत्यधिक संघर्षमय होता जा रहा था ।

अपनी सीमित दुनिया में तल्लीन इन कवियों के यहां प्रेम के सौन्दर्य, भोग एवं उष्मा के भी चित्र प्राप्त होते हैं और प्रेम से उपजे अवसाद और पीड़ा

के भी । 'वास्तव में इनकी स्वच्छंद वृत्ति सौन्दर्य एवं प्रेम की भूख लिए उड़ती थी, वह भूख तृप्त नहीं हो पाती थी, स्वच्छंद उड़ान सामाजिक प्रतिबन्धों से टकराती थी और टूट कर विरह की पीड़ा बन जाती थी ।'[11] कुल मिला कर कवि एवं समाज के आंतरिक संबंधों में एक तनाव ही व्याप्त रहा । बच्चन की इन पंक्तियों में इस तनाव की समुचित उद्घोषणा है -

(1) कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा
(2) वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ।[12]

स्पष्ट रूप से यदि देखें तो छायावादी कविता एवं उत्तर छायावादी कविता के कवियों ने प्रेम एवं मस्ती का उन्मुक्त गान गाया, पर उस प्रेम में यदि एक ओर भावना की असीमित उड़ान रही तो दूसरी ओर समाज से क्षरित हो रहे अपने आन्तरिक संबंध भी मुखर रहे । प्रेम की भावना यद्यपि छायावाद से कुछ अधिक खुले रूप में उत्तर छायावाद में प्रस्तुत हुई, परन्तु यह सही है कि प्रेम का कोई विस्तृत रूप अपने तमाम सामाजिक विद्रोहों के बाद भी ये कवि प्रस्तुत नहीं कर सके । प्रेम का रूप सदैव ही पौरुषपूर्ण कामना में यहां अभिव्यक्त होता रहा और नारी फिर पुरुष के चंगुल में फंसी रही - अंतर सिर्फ यही था कि अब वह कुछ अधिक उन्मुक्त थी और साकी की भूमिका का निर्वाह करने लगी थी । उत्तर छायावादी कवि सदैव नारी सौन्दर्य के कलश से मधु का पान करने में ही मस्त रहे और प्रेम को अभिशाप समझते रहे -

हां प्यार किया है, प्यार किया है मैंने
वरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने ।[13]

0 0 0

यदि यहां हम प्रेम के आधारभूत रहस्यों के बारे में तथा काव्य में उसके इतिहास की थोड़ी चर्चा कर लें तो यह अनुचित नहीं होगा । वास्तव में मनोविज्ञान मानता है कि प्रेम एक आदिम सहज प्रवृत्ति है और यह काम वासना का अन्यतम रूप है । जीव वैज्ञानिकों का यह मानना है कि प्रेम का मूल तत्व स्वयं अब भौतिक पदार्थों (मैटर) में ही निहित है और वही आगे चलकर योन

संबंधों में परिणत होकर नवीन एवं विकसित रूप ग्रहण कर लेता है । इन सारे तर्कों से एक बात स्पष्ट होती है कि प्रेम का जो रूप रहस्य के आवरण में बंद था, अब मुक्त हो गया । इसका आकर्षण भी अब लुप्त होता जा रहा है और अब यह मह्ज शारीरिक संबंधों की प्रत्यता का प्रमाण बनकर रह गया है । अकारण नहीं है कि क्रिस्टोफर ड काडवेल ने यह टिप्पणी की थी -`यह(यौन आकांक्षा) शायद पुन: उस रूप के ग्रहण में तत्पर होगा जो आदिम यौन संबंधों की आधारभूमि थी ।`[14]

इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए कि साहित्य में प्रेम, रूप एवं उसकी अभिव्यक्ति सदैव एक सी नहीं रही । सामाजिक विकास के बदलते हुए परिदृश्यों के कारण इसमें भी निरन्तर बदलाव आता रहा । अगर साहित्यिक चर्चा में इसे शामिल कर लें तो आदिकाल में यह अत्यंत शुद्ध, सरल एवं स्वाभाविक था एवं इसके आधार का पैत्र भी अधिकतर यौन सम्बन्धों तक ही सीमित रहा । परन्तु मध्ययुग की विभिन्न परिस्थितियों और उस युग के सामंती मानसिकता (फ्युडल मेंटेलिटी) वाले वातावरण एवं ज्वार की भांति उठे धार्मिक आंदोलनों ने इसको रोमानीपने की ओर अग्रसर तो किया ही, इसे अलौकिकता का जामा भी पहना दिया । चूंकि प्रेम का समाज से गहरा जुड़ाव है, अत: समाज में होने वाली उलटफेरों का समुचित प्रभाव इस पर पड़ना स्वाभाविक ही है । जैसे जैसे सामाजिक सम्बन्धों में समरसता का आग्रह बढ़ा, वैसे ही प्रेम ने भी अपने सीमित दायरे की रागात्मकता का चोला उतार कर एक व्यापक भाव पैत्र का वस्त्र धारण कर लिया । यही कारण है कि आधुनिक युग में प्रेम उस तरह दूर की कौड़ी नहीं प्रतीत होता है, जैसा मध्ययुगीन काव्य में प्रतीत होता था ।

`भारत में `भाव प्रवण प्रेम` ईसा की आरंभिक शताब्दियों से रचित दरबारी काव्य और नाटकों में सर्वप्रथम प्रकट हुआ । यह काल हिन्दू सभ्यता का क्लासकीय युग भी कहलाता है। इससे पहले रामायण एवं महाभारत जैसे महान महाकाव्यों में प्रेम प्राय: सीधे-सीधे वासना एवं उसकी तृप्ति का विषय था`[15] । यहां विशेषत: पुरुष की ही प्रधानता थी, जिसके लिए स्त्री आनंदातिरेक का एक उपकरण और ऐन्द्रियानुभूति का एक माध्यम बनकर प्रस्तुत होती थी ।

ईसा की पहली शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक के बीच का समय काव्य और नाटक में `प्रेम की धारणा` के आमूलचूल परिवर्तन का काव्य था । इस काल के काव्य का केन्द्रीय विषय प्रेम था, जो दूसरी अन्य किसी भी भावना से ऊपर था । उसका स्वरूप जहां एक तरफ गहन रूप से ऐन्द्रिक था, वहीं दूसरी ओर स्त्री-पुरुष के आपसी भाव-विनिमय से समृद्ध । इन विधाओं मेंस्त्री भी प्रेम के मामले में उतनी ही उत्साहित और खुश दिखाई गयी है, जितना कि पुरुष । दिलचस्प तथ्य यह है कि बहुधा प्रणय निवेदन की पहल स्त्री की तरफ से ही होती थी । बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज में प्रवेश का जीवन के प्रति एक निराशापूर्ण दृष्टिकोण का सूत्रपात किया । बौद्ध धर्म में जो प्रेम का देवता था, वह `मारा` या `मृत्यु` के नाम से जाना जाता था । इसने भावनात्मक प्रेम (पैश्योनेट लव) की भूमिका को तो संदेहास्पद किया ही, साथ ही प्रेम यौन रहस्यवाद के पिछले दरवाजों से भी प्रवेश न पा सका था । `थेरी गाथा` में बौद्ध भिक्षुणियों का बुद्ध के प्रति जो प्रेम प्रदर्शित है, वह प्रेमी-प्रेमिका के बीच का प्रेम न होकर पुत्री-पिता के वत्सल प्रेमाभाव का प्रतीक है ।[15]

संस्कृत क्लासकीय काव्य और नाटकों में काम भावना अपनी मूल संरचना में आख्यानात्मक है । इनमें भावप्रवणता की अपेक्षा रति के चाक्षुष दृश्यों अथवा भोग-विलास का ही आग्रह अधिक है, यही कारण है कि इसमें `निजता` अथवा `अहं` को दांव पर लगाने का खतरा बिलकुल नहीं था । कवि आंतरिक भावनाओं या बाह्य संवेदनाओं के बीच की सीमा रेखा को धूमिल करते हुए प्रेम को किसी अतीन्द्रिय भाव के रूप में प्रतिष्ठापित नहीं कर पाता था । संस्कृत काव्य में प्रेम प्राय: संवेदन के स्तर पर है, भावात्मक गहराई के स्तर पर नहीं । यहां प्रिय सिर्फ उत्तेजना एवं आनंद का स्रोत थी, जिसकी कवि एवं दैहिक सौन्दर्य के लिए आह्लादकारक ही थी । इन काव्यों में शारीरिक सौन्दर्य का व्यौरेवार विवरण होता था और इनके पात्र सिर्फ युवा एवं सुदर्शन स्त्री-पुरुष ही होते थे । जयदेव के `गीत-गोविन्दम्` का एक उदाहरण द्रष्टव्य होगा -

प्यालोल: केशपाशस्तरलित मलकं: स्वेदलोलो कपोलौ
स्पष्टा-दष्टाधर श्री: कुचकलशरुचा हरिता हरियष्टि:

कांची कांचीद्गताशां स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाय सद्य:
पश्चयंती चात्मस्मं तदीप विलुलितं स्तन्धरेयं धुनोति ।
(गीत गोविन्दम् 1216)

कुल मिलाकर क्लासकीय संस्कृत काव्य में कामुक प्रेम एवं भावात्मक प्रेम की दोनों धारायें विद्यमान थीं, प्रथम कुछ त्वरित और अंतिम थोड़ी मंद । प्रेम काव्य की प्रमुख अंतर्वस्तु के रूप में शारीरिक आदान-प्रदान (आकार-प्रकार भी) को ही अधिक प्रमुखता मिली । नायिका का मुख चंद्र या कमल पुष्पों की तरह, जंघाएं केले के उल्टे स्तम्भ, सुडौल पयोधर, वक्र नितम्ब आदि । इसमें कोई शंका नहीं होनी चाहिए कि प्रेम का ऐसा `सुदीर्घ ` वर्णन प्रेम जैसे आत्मिक एवं निजी संवेदन का वस्तुकरण कर देता था । रीतिकाल का रूपवर्णन भी संस्कृत काव्य के रूप वर्णन का ही प्रतिबिम्ब था ।

हिन्दी काव्य की रचना का आरंभ भारतीय इतिहास के मध्य युग में हुआ, उस समय तक सामंती परम्परा का प्रचार था और धार्मिक आंदोलनों का भी सूत्रपात क्रमश: कम होता जा रहा था । यद्यपि साहित्य के आदिकाल या वीरगाथाकाल में भी प्रेम के तमाम ग्रंथ रचे जा रहे थे । आचार्य शुक्ल तो उसे प्रेम एवं वीरता का काव्य युग ही कहते हैं । परन्तु उस प्रेम में प्रेमिकायें युद्ध का एक माध्यम ही बन गई थीं, इस प्रेम में विरह की भी प्रधानता थी । भक्ति काल में प्रेम का भावुक रूप स्पष्ट हुआ और भावुकता को भक्ति से जोड़ कर प्रस्तुत किया गया, यद्यपि प्रेम यहां भक्ति का ही एक रूप था और भक्ति प्रेम पर बीस थी । बाद की हिन्दी कविता में प्रेम की अनुभूतियां लोकगीतों एवं रूप-चित्रों के माध्यम से सामने आयीं । ये लोकगीत आदियुगीन काव्यों के अवशेष चिन्हों के रूप में शेष रहे, हालांकि यह प्रेम मर्यादित एवं भावप्रवण था तथा इसमें विरह की ही प्रधानता थी । यह विरह की भावना फारसी काव्य का प्रतीक थी क्योंकि इसके पूर्व के हिन्दी काव्य में विरह का ऐसा निर्मम रूप नहीं था ।

मध्ययुगीन काव्य में इस्लामी संस्कृति का दखल भी स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है - क्योंकि मुगलों का शासन उस समय था और सभी कलात्मक

विधाओं में उनकी गहन अभिरुचि थी । ऊपर जिस फारसी प्रभाव की बात की गई है, उसका मूल कारण इस्लामी संस्कृति का पदार्पण ही था । यद्यपि एक-दो विशेष प्रवृत्तियों को छोड़ दें तो इस प्रकार के अधिकतर काव्य में भारतीय संवेदना एवं संस्कृति का स्पन्दन ही अधिक रहा । दक्खिनी हिन्दी में उपलब्ध रचनाओं से तो यही संकेत मिलता है । इसमें व्यक्त प्रेम भाव भारतीय काव्य परम्परा का अनुसरण करता ही प्रतीत होता है । यह अवश्य था कि 'माशूक' को पुल्लिंग में कहने की प्रथा तब दक्खिनी हिन्दी कवियों में नहीं थी, जो बाद में दिल्ली एवं लखनऊ के उर्दू प्रभाव के कारण वहां पहुंची ।[16]

भक्तिकाल एवं छायावादी युग में भावुक और आत्माभिव्यंजित प्रेम काव्यों की उत्कृष्ट रचना हुई । विशेषत: छायावाद प्रेम निरूपणकी पद्धति की दृष्टि से भक्ति काल की रहस्यवादी धाराओं से अधिक प्रेरणा ग्रहण करता है । परवर्ती हिन्दी काव्य में प्रेम का बहुत विकास हुआ, यह कहना उचित नहीं है, परन्तु वह विभिन्न स्थितियों और विचारधाराओं से गुजरते हुए एक निश्चित स्थान की सदैव तलाश करता रहा । प्रयोगवाद एवं नई कविता के दौर में भी प्रेम अपने आप को दार्शनिक भाव से मुक्त नहीं कर पाया, पर यह कहना अनावश्यक न होगा कि यह दर्शन साफ-साफ जीवन-संघर्ष की भावनाओं से जुड़ता था और अपने युगीन परिस्थितियों की सार्थकता की एक परिपक्व जमीन तैयार करने में लगा रहा । प्रयोगवाद के पूर्व प्रगतिवाद के दौर में प्रेम की एक अलग अभिव्यंजना उभर कर सामने आयी, वह यह थी कि प्रेम अब काल्पनिक एवं हवाई न रहकर जमीन से जुड़ा और वर्तमान परिदृश्य के संघर्षों के एक माध्यम के रूप में प्रस्तुत होने लगा । वास्तव में छायावादी कविता कल्पना के जिन पंखों पर सवार होकर उन्मुक्त विचरण कर रही थी, उसने समाज के प्रति अपने दायित्वों से स्वयं को लगभग काट दिया था । स्पष्ट रूप से छायावादी रोमानियत की प्रतिक्रिया का काव्य बनकर प्रगतिवाद सामने आया । प्रगतिवाद में प्रेम 'क्रांति' जैसी यथार्थपरक अभिव्यक्ति के बरअक्स आया । ये कविताएं प्रेमी-प्रेमिकाओं की उन्मुक्त मनोदशा का चित्रण करती थीं । यहां तक तो ठीक था कि प्रेम कविताओं की एकरसता कुछ स्तर तक अतिक्रमित हुई । पर इसके भी कुछ अपने खतरे साथ ही साथ उभर कर आये । क्रान्ति की परिकल्पना लिए

उतरे कवियों के हृदय में प्रेम का लगभग वही स्वरूप रहा और वे कभी कभी अतिशयता की सीमा तक पहुंच जाते थे । बहुत से प्रगतिवादी कवियों ने इस प्रवृत्ति के फेर में पड़ कर अपनी कविताओं में अनेक नग्न एवं नीरस चित्रों का समावेश करा दिया । छायावादी अस्पष्टता की प्रतिक्रिया में रचित ये पंक्तियां यथार्थवाद की सतही पराकाष्ठा के कारण बहुधा दोषपूर्ण बन गयीं एवं निम्न स्तर में आ गयीं । बाद की काव्य धाराओं में इस प्रवृत्ति का उन्मूलन हुआ और खुल कर यौन चित्र भी प्रस्तुत किये गये और प्रेम अब भावना का काव्य न होकर यौन सौन्दर्य केबखान का काव्य बना ।

0 0 0

प्रयोगवादी कवियों ने प्रेम के साथ भी अनेकतर प्रयोग किये । उत्तर छायावाद के पूर्व छायावाद की ढेर सारी प्रेम कविताओं को 'अवसाद मलिन झरते आंसू की माला' ही माना जाता रहा (या कम से कम यही प्रचलित धारणा थी), किन्तु प्रयोगवादी कवियों का काव्य छायावादी एवं उत्तर छायावादी प्रेमानुभूतियों के बरअक्स प्रेम को यज्ञ की ज्वाला के रूप में देखता था (अज्ञेय) । इस पूरी कविता में प्रेम जीवन के तत्व एवं भीषण संग्राम का पर्याय बनकर सामने आया । प्रेम को यह केन्द्रीयता संख्या की दृष्टि से ढेर सारी प्रेम कविताएं लिखने के पश्चात् भी न तो छायावादी कवि दे सका था और न ही उत्तर-छायावादी कवि ।

अशोक वाजपेयी एवं अज्ञेय दोनों के यहां ही प्रेम जीवन के अस्तित्व से गहरे स्तर पर संपृक्त रहता है । दूसरे अर्थों में कहें तो इनके यहां प्रेम में जीवन की प्रधानता है । विषय की दृष्टि से अज्ञेय के समीप रहते हुए भी अशोक की कविता का मूल तत्व और कविता मेंव्यक्त प्रेम की परिकल्पना स्पष्ट रूप से भिन्न है । यह भिन्नता साफ-साफ दृष्टिगत होती है । प्रेम और मृत्यु जहां अशोक के यहां उत्सव का रूप धर कर प्रस्तुत होते हैं, वहीं अज्ञेय के यहां एक सामान्य स्थिति के ही रूप में वह प्रकट होते हैं ।

अज्ञेय के काव्य में स्त्री-पुरुष के सहज आकर्षण से युक्त प्रेम की गहन एवं सूक्ष्म अभिव्यक्तियां खुले रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाती हैं । उनके समस्त

काव्य संकलनों का अवलोकन करने पर यह पता चलता है कि आरंभिक कविताओं से बाद तक की कविताओं का क्रम उतार-चढ़ाव से भरा है । विकास की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की प्रेम-संवेदना आदर्श के ऊंचे शिखर से अपना उत्स ढूंढ़ते हुए प्रवाहित होती है, बाद में यौन-चेतना (एवं फ्रायडीय मनोविश्लेषण से) युक्त होती हुई अंत में गंभीर दर्शन की तलाश में निकल पड़ती है । `प्लूटोनिक प्रेम` (वितलीय प्रेम) की प्रवृत्ति का आरंभ यहीं से होता है । अज्ञेय की कविता का उपर्युक्त विकास क्रम प्रस्तुत करने का आशय यही है कि अपने उत्तर पक्ष में प्रेम को दर्शन में तब्दील करने की प्रवृत्ति जिस तरह से उत्पन्न हुई, वह छायावाद के प्रेम निदर्शन के आरंभिक रूप से बहुत अलग नहीं थी, कम से कम भावानुभूति के स्तर पर । यह अवश्य है कि इस दर्शन के मूल में भी उल्लास की सहज आवृत्ति थी और अपने परिवेश की गंभीर अभिव्यक्ति भी, छायावादियों की तरह सब कुछ समेट कर एक दायरे में बंधने की तैयारी नहीं ।

अशोक वाजपेयी की कविताएं एक ओर जहां जीवन के सुखद उल्लास की कथा बांचती हुई चलती हैं, वहीं रति, और नश्वरता के व्यापकता की भी सहज आवृत्ति वहां प्रस्तुत होती है । रति-भावना के आधार पर देखा जाये तो अज्ञेय और अशोक में सबसे बड़ा अंतर यही है कि अज्ञेय के यौन चित्रों पर कुंठा का जबरदस्त प्रभाव व्याप्त है (विशेषत: उत्तर अज्ञेय में), ऐसा फ्रायड के मनो-विश्लेषण के दर्शन के प्रभाव से है । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन कविताओं में व्याप्त द्वन्द्व अवसाद एवं निराशा की छटपटाहट का मूल कारण यही है । अशोक अपनी कविताओं में `मुक्त लिबिडो` (खुले यौन भाव) की स्थापना करते हैं, वहां रति उत्सव की तरह प्रस्तुत होती है - कुंठा का कोई विशेष आग्रह वहां नहीं है ।

प्रयोगवाद नेप्रेम काव्य के संदर्भ में भी विभिन्न प्रयोग किए, शिल्प एवं संप्रेषण के स्तर पर । हिन्दी कविता कर्म में पहली बार' इन उपमानों को बदल डालो, ये उपमान मैले हो गए हैं' की स्पष्ट उद्घोषणा कर अज्ञेय ने प्रिय के लिए कुछ अछूते उपमान रचे और इन उपमानों से लोक जीवन के बिल्कुल आसपास

का संवाद प्रस्तुत किया (देह कनक चम्पे की कली, होंठ दाड़िम पुष्प, कलगी बाजरे की आदि) । अशोक वाजपेयी समग्रता में पूरी सृष्टि को अपने प्रेम में ले आते हैं और तब प्रेम का आख्यान रचते हैं । जीवन के उल्लास की आंख से प्रेम को महसूस करना अशोक की कविता की एक आवश्यक पहचान है और अज्ञेय के यहां प्रेम की दाह को महसूस करने की अकुलाहट भी है । अज्ञेय की कविताएं जहां प्यार में बलि चढ़ जाने एवं बिंध जाने की कविताएं हैं, वहीं अशोक वाजपेयी की कविताएं निजी अनुभवों एवं वैयक्तिक सुखानुभूति को प्रेम में परिणत करने की कौशल की कविताएं हैं - निम्नलिखित उदाहरण दोनों की भावना के समझ के लिए उपयुक्त रहेंगे ।

अज्ञेय कहते हैं --

प्यार एक यज्ञ का चरण
जिसमें मैं मेध्य हूँ
प्यार
एक अचूक वरण
कि जिसके द्वारा मैं
मर्म में बेध्य हूं ।[17]

अशोक के यहां --

हम अभी खिलें
हम अभी काल से क्षीण कर
इन क्षणों को भरे सुगंध से, अभिषेक से
हम पर सुख की छाया हो
मैं इसी सुख का
जो सिर्फ हमारा है
हमीं से है - हमीं तक है
प्रस्ताव करता हूं ।[18]

- कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी प्रेम की व्यापकता के कवि हैं, उसके वैभव की प्रफुल्लता के कवि हैं, समग्र समाज के नहीं,

पड़ोस के कवि हैं । अज्ञेय प्रेम के दर्शन और उसकी समाजपरकता के कवि हैं । यह सही है कि दोनों कवियों के शिल्प कई बार पास-पास खड़े प्रतीत होते हैं (कम से कम तत्सम् शब्द विधान के संदर्भ में), फिर भी अशोक अपनी कविताओं की काव्य-वस्तु अपने तईं तय करते हैं । प्रेम का सौन्दर्यशास्त्र भी दोनों ही अपने अपने ढंग से गढ़ते हैं ।

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताएं यदि कहा जायें तो, प्रेम को जीवन की काली-वृत्तियों से बचा कर ले जाने का प्रयास करती हैं (यह अलग बात है कि इस प्रयास में वे कभी-कभी अतिबौद्धिक एवं दार्शनिक होने लगती हैं और संसार के रहस्यों को जिज्ञासा भाव से देखती ही नहीं, बल्कि आत्मसात् भी कर लेती हैं, पर यह चिन्तन और सांसारिक वृत्तियों का आत्मसात् करना प्रयोगवाद से कहीं जुड़ता नहीं है, क्योंकि इस चिन्तन एवं दर्शन में भी शारीरिक सौन्दर्य एवं यौन उमंगों के चित्र हैं, जीवन के सुख-पक्ष से जुड़ने की आकांक्षा है । इसके बावजूद बौद्धिकता का अति आग्रह कविता के सहज प्रवाह को बाधित करता है, प्रयोगवाद में भी और अशोक के यहां भी ।

प्रयोगवाद के ही एक अन्य कवि शमशेर बहादुर सिंह ऐसी रोमानी भावुकता के कवि हैं, जो सघन ऐन्द्रिकता के सुखद क्षणों में अपनी कविता की लय निर्मित करते हैं । अशोक वाजपेयी भी प्रेम के सुखद ऐन्द्रियता के कवि हैं । शमशेर से वे सिर्फ एक जगह जुड़ते हैं, जब शमशेर के यहां अकुंठ मन से शरीर का उत्सव रचा जाता है ।[19] अंतर यही है कि शमशेर में अशोक के से खुलेपन का अक्सर कम है और साहस के ऐकान्त का अभाव भी ।[20] वह अपने प्रेम प्रसंगों में भी कम मुखर होते हैं । जबकि अशोक के यहां 'खुलापन' तो है ही, प्रेम को अपने तईं प्रस्तुत करने की जिजीविषा भी । पर ऐन्द्रिकता के मूल भाव और विन्यास के संदर्भ में दोनों एक दूसरे के नजदीक होते हैं । निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य होंगे --

शमशेर - एक ठोस बदन अष्ट धातु का-सा
सचमुच ? जंघाएं दो ठोस दरिया ठैरे हुए
ठोस वक्ष-कपोल उभरे हुए चारों
निमंत्रण देते चैलेंज सा ।[21]

अशोक - वह कानों में पहनती है, सूर्य चंद्र के कुंडल
वह अपने उरोजों को देती है, पर्वतों की सी उठान
वह आकाश को बांधती है दुपट्टे की तरह
वह पृथ्वी को / अंतरिक्ष को / सारे ब्रह्मांड को
पर्युत्सुक करती है
प्रिय समागम के लिए ।[22]

अंत में यह कहना उचित होगा कि अशोक वाजपेयी संस्कृत के क्लासिकीय काव्य से अपनी कविता की मूलप्रेरणा प्राप्त होते हैं, वहीं उत्तर छायावादी कविता और प्रयोगवाद से भी अपनी `कुछ` प्रवृत्तियों के आधार पर निकटता का संयोग रचते हैं। परम्परा और संस्कृति को गहरे अर्थों में कविता में संजोने की जरूरत महसूस करते हुए भी वह समकालीनता के तकाजों की उपेक्षा नहीं करते हैं । इसलिए अब इन कविताओं का रूप एक भिन्न विन्यास से मंडित रहता है - और अपनी इसी भिन्नता में मुखर रहता है ।

हिन्दी कविता कर्म में प्रेम की जो सघनता और उत्कटता अशोक की प्रेम-कविताएं उपस्थित करती हैं, वह उनकी स्वयं की निर्मिति है । फिर भी अगर परम्परा की बात आवश्यक ही हो तो उन्हें संस्कृत काव्य की अंतर्वस्तुता और छायावाद की शिल्प-व्यवस्था की परम्परा में रखा जा सकता है । पर यह भी कहना होगा कि बावजूद इसके, कविताओं की बुनावट वे समकालीनता के धागों से ही करते हैं - और उन्हें नई दृष्टि और नए संदर्भों से लैस करते हैं ।

संदर्भ

1. छायावाद : डा० नामवर सिंह, पृ० 51
2. हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह - परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 233
3. छायावाद : डा० नामवर सिंह, पृ० 84
4. कामायनी, काम सर्ग, पृ०65
5. प्रसाद-अज्ञेय-निराला : रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० 84
6. आंसू : जयशंकर प्रसाद, पृ० 28
7. प्रसाद-अज्ञेय-निराला : रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ० 59
8. राग-विराग : निराला, पृ० 47
9. छायावाद : डा० नामवर सिंह, पृ० 65
10. वही, पृ० 69
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास : सं० डा० नगेन्द्र, पृ० 622
12. मधुकलश : हरिवंश राय बच्चन, पृ०,26
13. मधुकण : भगवतीचरण वर्मा, पृ० 53
14. स्टडिंग इन डार्क कल्चर : क्रिस्टोफर काडवेल (करंट बुक डिस्ट्रिब्यूशन), पृ० 91
15. टेल्स आफ लव, सेक्स एंड डेंजर : सुधीर कक्कड़, जान एम. रास (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1992), पृ० 83
16. आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम प्रवाह; आ० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 13
17. अरी ओ करुणा प्रभामय - अज्ञेय, पृ० 71
18. थोड़ी सी जगह - अशोक वाजपेयी, पृ० 16-17
19. प्रतिनिधि कविताएं : शमशेर, भूमिका, डा० नामवर सिंह, पृ० 6
20. काल से होड़ लेता शमशेर - विष्णु चंद्र शर्मा, पृ० 24
21. प्रतिनिधि कविताएं - शमशेर, पृ० 184
22. तिनका-तिनका : अशोक वाजपेयी, पृ० 208

अध्याय - दो

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविता : विविध प्रवृत्तियां

खण्ड - क : प्रेम में देह का उत्सव

खण्ड - ख : प्रेम में प्रकृति का वैभव

अध्याय - दो

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविता : विविध प्रवृत्तियां

(खण्ड - क) प्रेम में देह का उत्सव

देह की दीप्ति भी इसी प्रकार जागती है
प्रिय स्पर्श से
देह एक वृक्ष है
दीप्ति की प्रतीक्षा में
देह को प्रकट करती है देह ही - ।[1]

हिन्दी कविता कर्म में 'प्रेम' सदैव ही एक चिरपरिचित शब्द रहा है । आदिकाल से लेकर वर्तमान में समकालीन कविता के इस दौर तक में प्रेम एक शक्तिशाली काव्य संवेदना की भूमिका केनिर्वाह में रत रहा है । अनेक कवियों ने तो प्रेम को ही अपनी काव्य जिजीविषा का प्रमुख आधार बना कर प्रेम के महत्व की नींव कविता में तैयार करने का कार्य किया । प्रेम के इस सौन्दर्य का राग इस कलुषित होते जा रहे रागविहीन समय में एक अद्भुत ताजगी के सृजन में तल्लीन होकर एक अलग, परन्तु समानान्तर कविता समय की बुनियाद तैयार करती है । वास्तव में रागात्मक अनुभूतियों की संवेदना का सृजन, कविता की मानवीय अनिवार्यता का मूल प्रमाण है ।[2] प्रेम हिन्दी कविता का मार्गदर्शक रहा है । परन्तु प्रश्न इसका है कि किस तरह का प्रेम ? क्या ऐसा प्रेम, जिस में प्रेमी युगल आसमान से कल्पना के पंखों पर सवार होकर उतरता था, या उस तरह का प्रेम जिसमें संबंध वास्तविक न रहकर हवाई और अमूर्त हो जाता था - जिसमें स्त्री एक रूमानी आदर्श भले थी, जीवित व्यक्ति नहीं ।

कुलमिलाकर हिन्दी कविता का प्रेम सात्विकता और मर्यादावाद के खोल के भीतर ही अधिक पलता आया है, यदि हम रीतिकालीन कविता के स्थूल नख-शिख वर्णन को छोड़ कर जिसे डा० नामवर सिंह 'चारपाई पर पड़े पड़े कराहने

वाला प्रेम` कहते हैं । वास्तव में प्रेम में देह की शाश्वत और उद्दाम उपस्थिति एक वर्जनात्मक परिधि के घेरे में सदा सिमटी रही ।[3]

प्रेम को देह से बरज कर एक बचकाने और कल्पनामूर्त रोमान की आखेट आधुनिक हिन्दी कविता-कर्म में होता आया है । देह से ही प्रेम है, इस सत्य को मानने से इन्कार कर नैतिकतावादी कवि-पुंगवों ने प्रेम के उसी रूप का वरण अपनी कविता के लिए किया, जिसका अंत प्राय: गलदश्रु भावुकता में ही समाप्त होता था । द्विवेदी युगीन नैतिकतावादियों की कठोर दृष्टि से बचने के लिए छायावादी कवियों ने अपरोक्ष रूप से शरीर की महिमा का बखान किया । इसका कारण डा० नामवर सिंह बताते हुए कहते हैं -`नारी सौन्दर्य की स्थूल शारीरिकता तक सीमित रहने के कारण वे (पूर्ववर्ती कवि) भीतर ही भीतर नारी-रूप की नश्वरता के प्रति इतने अधिक सतर्क थे कि उनके लिए किसी शाश्वत-सार्वभौम नारी रूप की कल्पना असंभव थी` ।[4] यह सत्य है कि रीतिकालीन विलासप्रिय कवियों ने नारी देह के शारीरिक सौन्दर्य का इतना सब स्थूलचित्रण किया कि नारी सिर्फ सौन्दर्य की पुतली और वस्तु तक ही सीमित रही और भोग्या बनती हुई चली गयी । छायावादी कवियों का नारी रूप की प्रतिच्छाया मात्र से सतर्क होने का सिर्फ यही एक कारण नहीं था कि वह प्रकृति के वन में निर्विघ्न विचरण कर रहे थे (और यह कह रहे थे कि `छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया । बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूं लोचन`) बल्कि जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है कि द्विवेदी युगीन आलोचकों की तीक्ष्ण दृष्टि भी उन पर सदैव टिकी रही । इसी कठोर दृष्टि के कारण जयशंकर प्रसाद जैसा प्रेम और सौन्दर्य के आनंदवाद का कवि भी `नीले परिधान के बीच दैहिक उजास को बिजली के फूल में पिरोकर` इसी कठोर नैतिकता का अनुपालन करता है ।

हिन्दी कविता के परवर्ती काल में (प्रयोगवाद के बाद) यह नैतिकता का आग्रह खंडित होने लगा और कवियों ने एक स्वस्थ जमीनी धरातल (अर्थात् अपने बीच की ही एक सामान्य नारी को) की स्त्री को कविता-कर्म में प्रतिष्ठित किया और तब नारी देह की एक अत्यंत छवि उभर कर सामने आयी । अज्ञेय,

गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिंह और इसके बाद की पीढ़ी में केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण आदि कवियों ने नारी के दैहिक सौन्दर्य को अपने समय की कठोर वास्तविकताओं में पिरोकर प्रस्तुत किया । अशोक वाजपेयी इसके थोड़ा सा उलट नारी देह के सौन्दर्य को अपनी कविता में उत्सव की तरह मनाने का उपक्रम करते हैं और सदैव उस दैहिक सौन्दर्य के आंतरिक व्यापार को सूक्ष्मतम रूप में व्याख्यायित करने के प्रति उत्सुक रहते हैं ।

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविता और उन कविताओं में देह की उद्दाम उपस्थिति हिन्दी कविता की `विक्टोरियन नैतिकता` को अतिक्रमित करके उसके प्रति विद्रोह करती है तथा देह और प्रेम की सत्ता को जरूरी तरीके से संपृक्त करती है । देह की उपस्थिति और उस उपस्थिति के खुलेपन के कारण ही वह कुछ गिने-चुने प्रेम कवियों में हैं, जिनकी कविता से सपाट रोमान अनुपस्थित है । जैसा कि सुधीश पचौरी अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं --`लेकिन वह तो बन गया और अपने कवि को भी उसने बना दिया है, एक ऐसे गैरखानी प्रेम का कवि, जिसमें देह प्रधान है । अशोक वाजपेयी रोमानियत से विदाई के कवि हैं ।`[5]

TH-6887

अशोक वाजपेयी प्रेम एवं देह को अलग-अलग खानों में बांट कर नहीं देखते हैं । उनके काव्य में प्रेम देह के ही आसपास अपने पूर्ण वैभव तथा गरिमा के साथ विद्यमान रहता है । देह के इस प्रकार के सघन अनुभव प्रेम को जहां आकाशजीवी और कल्पनाप्रसूत होने की सीमा में प्रविष्ट करने से रोकते हैं, वहीं उनमें एक प्रामाणिक अनुभव भी निरन्तर सृजित करते हुए चलते हैं ।

DISS
0,152,1,NAI:g(S;55)
152N7

जहां जहां सुख है
उसके तन में, उसके मन में
वहां वहां उसने उसे छुआ
अपने अंगों से -
अपनी देह से

Jawaharlal Nehru University LIBRARY

अपने शब्दों से
अपने मन से ।[6]

\+ + +

उसके देह के चंद्रोदय में
ओस सा भींगना है ।[7]

- अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं में देह वर्णन इस अतियथार्थवादी और संक्ट फैलते हिन्दी कविता के समय में अद्भुत ताजगी का सृजन करती हैं । इसे दूसरे शब्दों में कहें तो इस गैरइमानी और अतियथार्थवादी समय में ये कविताएं समकालीन धारा के विपरीत तैरती हुई दिखाई पड़ती हैं । यहां यह कहने से कोई परहेज नहीं है कि अपने समय के साहित्यिक संदर्भ को ये कविताएं अतिक्रमित करती हैं और इसीलिए ये बड़ी हैं । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जहां प्रेम का रागात्मक स्पंदन दम तोड़ता दिख जाता है और कवियों का जीवन के प्रति तीव्र यथार्थ की संवेदना निरन्तर पुख्ता होती जा रही है, वहीं अशोक वाजपेयी की कविता का प्रेम अपने ही यथार्थ में रचा बसा और उससे ही आक्रान्त है ।

प्रेम में देह की परिकल्पना निश्चित रूप से अशोक वाजपेयी की उसी दृष्टि का कमाल है, जो देह के बहाने प्रेम की शाश्वतता की सृष्टि करती रही है । देह की संपदा, देह के सौन्दर्य को रूप को, विशेषणों और बिम्बों द्वारा प्रेम में गूंथ कर एक संपूर्ण रागात्मक जीवन की और बढ़ते मानवीय बोध को उद्घाटित करने का प्रयास अगर अज्ञेय और शमशेर के बाद सचमुच किसी कवि ने किया है तो वह निश्चित रूप से अशोक वाजपेयी ही हैं । अजीत चौधरी का कहना सही है - "प्रेम का अर्थ अत्यंत व्यापक और विराट है, ऐन्द्रिक चेतना से दैहिक क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न सौन्दर्य-बोध उसका एक आयाम हो सकता है, जिसमें देह को प्रकट करती देह अपने भीतर छिपी अप्रकट उस सौन्दर्य संपदा का अहसास कराती है, जिसमें मनुष्य अपनी तुच्छता, होने की निस्सारता और ऊसर जीवन से पूर्णता की ओर बढ़ते हुए प्रेम को व्यापक और मानवीय अर्थों में रूपान्तरित करना शुरू करती है ।"[8]

क्योंकि तुम हो
हरी पत्ती होती है लज्जारुण

ठंड में सिहरती है देह
कामना में आत्मा ।[9]

देह और देह वर्णन सदैव से ही हिन्दी कविता के वर्णनात्मक तत्व रहे हैं । यदि थोड़ा बहुत चित्रण कहीं मिलता है तो भी बस वह देह की अनेक त्रासदियों का स्थूल एवं सपाट चित्रण ही है । सुषमा भटनागर अपने एक लेख में लिखती हैं -"प्रेम एवं देह सदैव से ही हिन्दी कविता के लिए वर्जनात्मक तत्व रहे हैं ।"[10] वर्तमान में भी जब हिन्दी प्रेम कविता देह के कोमल स्पर्श को गड़बड़ाने की आक्रामक लिप्सा से आतुर होती दीखती हो, तो अपनी ऐन्द्रिक अनुभूतियों और देह के शिल्प की गरिमा को एक आक्रामक जिद व कोमलता के साथ अशोक वाजपेयी हमारे सामने चुपचाप पसार जाते हैं --

वह कैसे कहेगी हाँ
हाँ कहेंगे
उसके अनुरक्त नेत्र
उसके उदग्र-उत्सुक कुचाग्र
उसके देह की चक्ति धूप
उसके आर्द्र अधर
कहेंगे हाँ
वह कैसे कहेगी हाँ - ।[11]

अशोक वाजपेयी की कविता में देह सिर्फ एक भोग्य वस्तु ही नहीं है, वह अपने पीछे से एक सम्पूर्ण जीवन की कथा कहती चलती है, अपने समय के प्रेम को एक पक्की जमीन देती है । अशोक वाजपेयी एक प्रश्न के उत्तर में कहते हैं -"असल में देह का उत्सव मनाना मेरे लिए सिर्फ एक आब्सेसन (सब्त) नहीं है, उसके पीछे एक समग्र जीवन दृष्टि का भी संकेत है ।"[12] वास्तव में यदि अशोक वाजपेयी की देह प्रधान कविताओं को पूर्वग्रह मुक्त होकर सूक्ष्मता और परिपक्वता से विश्लेषित किया जाये (जैसा कि आज तक कम ही हुआ है) तो जीवन दृष्टि की समग्रता साफ-साफ अर्थों में प्रतिबिम्बित होती है । यदि हम नवें दशक की

कविता के एक चिरपरिचित और चलताऊ मुहावरे को उधार लेकर कहें तो कविता के लिए इस कठिन समय में ये कविताएं देह का उत्सव मनाने के साथ ही साथ मानवीय संबंधों की धारित होती हुई उन संवेदनाओं पर भी प्रहार करती हैं जो समकालीन कविता की रीढ़ बनी हुई हैं ।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में देह न तो कविता से अलग है और न ही शब्द । बल्कि बहुत बार तो कवि देह को शब्द के बरअक्स रखकर शब्द की सत्ता को अतिक्रमित कर जाता है । मदन सोनी कहते हैं - 'नारी देह का शब्द से यह प्रतिस्थापन नर-नारी प्रेम कथा रचने की युक्ति नहीं है । यह एक कवि का कविता को अपने रति-भाव से पाने का उद्यम है, एक ऐसी देह को पाने का उद्यम, जो शब्दों के परमाणु पराग से रचित और शब्द में स्पन्दित है ।'[13]

उसके चेहरे की द्युति सा
उसके चेहरे की आभा सा
उसके नेत्रों के चकित आश्चर्य सा
अंतरिक्ष में सुगबुगाता रहेगा शब्द ।[14]

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताएं सदैव ही विवादों के घेरे में रही हैं । कविता में देह के उत्सुक, उदात्त और खुले चित्रण को अक्सर अश्लीलता के साथ जोड़ कर देखा जाता रहा है । इसका कारण संभवत: सुधीश पचौरी ने अपने एक लेख में स्पष्ट कर दिया है -- 'हिन्दी का पाठक अभी देह को इतना प्रत्यक्ष नहीं देखता - वर्जनाएं हैं ।'[15] कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी कविता की छुई-मुई नैतिकता से ही इस वर्जना की उत्पत्ति हुई है । अशोक की कविताएं इसी ग्लानियत और वर्जना को चुनौती देती हैं । मूलत: देह और गेह का कवि माने जाने के बावजूद उनके यहां देह की समग्र उपस्थिति के बाद भी यदि ये कविताएं अश्लीलता के घेरे से स्वयं को बचा ले जाती हैं तो इसका सिर्फ एक कारण है कि उस दैहिक उपस्थिति में भी एक प्रकार की दिव्यता है और यदि स्पष्ट रूप से कहा जाये तो यही दिव्यता दैहिक मांसलता के साथ बहुत सूक्ष्मतम परन्तु संतुलनकारी डोर से संपृक्त रहती है -

धीरे-धीरे तपेगी उसकी देह
सुख की हल्की आंच में
प्रेम उसके पास आयेगा
नींद की तरह
सपने की तरह ।[16]

दरअसल कोई भी साहित्य कब 'पोर्नोग्राफी' में बदल जाता है, इसकी पहचान हम देह के प्रति कवि के दृष्टिकोण से तय कर सकते हैं । अशोक वाजपेयी के लिए देह सिर्फ आखेट नहीं है और न ही वह प्रेम के अरण्य में आखेटक की भूमिका में है । अशोक का पूरा कवि कर्म देह की नाभि में प्रेम की कस्तूरी की तलाश का कवि कर्म है ।

अपने श्यामल वैभव में
अपने देह और यौवन के साथ
अकेली वह
अपने ही अंगों की धूप में
तपती वह ।[17]

कवि अंतत: उस प्रेम तक जा पहुंचता है और यही वह बिन्दु है जहां वह केलि के कवि से प्रेम का कवि हो जाता है । अशोक की कविताओं में उपस्थित प्रेमी हठी एवं कपटी होने के बावजूद लोलुप व कामुक नहीं है । देह उसके लिए एक वृत्त है, जो स्पर्श मात्र से ही दीप्त हो उठता है - देह की प्रतीक्षा में । इन कविताओं में स्त्री-देह बेडरूम के नीम अंधेरे में नहीं खुलती है, बल्कि प्रेम के सारे विशेषण सूर्य, उजास, चंद्र, फूल, धूप और प्रभा से संबंधित है और यह निश्चित रूप से देह के प्रति उसके सम्मान का सूचक है । देह सिर्फ उपभोग्य नहीं है, दूसरे शब्दों में कहें तो देह देह का उपभोग नहीं करता, बल्कि देह देह से मिल कर एक अनोखे उजास का सृजन करता है और यह उजास अशोक की कविता में यत्र-तत्र बिखरा है -

पानी छूता है उसे
उसकी त्वचा के उजास को
उसकी अंगों की प्रभा को ।[18]

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताएं एक विशेष अर्थ में इसी लिए भी महत्व-पूर्ण हैं कि उनमें देह की दिव्यता और मांसलता का प्रदर्शन नितान्त सरलीकृत रूप में नहीं है, उनके इसी कौशल के कारण इनका सौन्दर्य कहीं भी विशृंखलित नहीं होता है । अगर सुमन वर्मा की टिप्पणी को ध्यान में रखें कि -`देह की इतनी मुखर और एकाग्र उपस्थिति के बावजूद भी इन कविताओं के सौन्दर्य में कोई क्षति नहीं पैदा होती है तो इसका कारण यह है कि इनमें दिव्यता और मांसलता के बीच एक संतुलनकारी सानिध्य है, जो कभी इन कविताओं में प्रयुक्त तत्सम् शब्दावली के कारण उत्पन्न होता है, तो कभी मांसलता को साधती संज्ञाओं के कारण` - [19] तो इन कविताओं में जो एक अपूर्व सौन्दर्य बोध है, उसके स्खलित न हो सकने का कारण स्पष्ट हो जाता है --

वह दिगम्बरा
आकाश की शैया पर
उसकी कंचुकी उतार कर ले गया है चंद्रमा
उसका अधोवस्त्र हर ले गया है सूर्य
उसके अनावृत उरोज
दिपतें हैं ताराओं से । [20]

हिन्दी साहित्य में प्रयोगवादी धारा के बाद नैतिकता का आग्रह थोड़ा टूटता है, न सिर्फ कविता में, बल्कि कहानियों और उपन्यासों में भी । इसका कारण यह था कि छायावाद से अभी तक जिस ही क़िस्म नैतिकता का अनुपालन होता आया था, उसमें काफी बदलाव आये । स्त्री सिर्फ सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति नहीं रह गयी थी और न ही अब वह `देवि मा सहचरि प्राण` के दायरों में कैद थी । उसके सौन्दर्य की ही तरह उसकी देह और उसकी यौन आकांक्षा का प्रस्फुटन भी साहित्य की एक जरूरत बन गया था । कहने का आशय यही है कि स्त्री अब सुनहले फ्रेम में जड़ी संवेदना रहित सजावटी वस्तु नहीं रही, अब वह अपने सुख-दुःख से लड़ती हुई और इस मर्यादित नैतिकता से विद्रोह करती नारी थी ।

प्रेम कविताओं में देह की एकाग्र उपस्थिति आधुनिक हिन्दी कविता के कुछ

कवियों जैसे अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय आदि के यहां भी प्राप्त होती है, पर यह आश्चर्य की ही बात है कि इनकी कविताओं के ऊपर देह के उपयोग या उपभोग या `दैहिक सौन्दर्य की आड़ में अश्लीलता का प्रसार` जैसे आरोप कभी नहीं लगाये गये जो कि अशोक वाजपेयी की कविताओं पर अक्सर उठाये जाते रहे । शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा है --

सुंदर
उठाओ
निज वक्ष
और कस उभर
क्यारी भरी गेंदा की
स्वर्णारिक्त
क्यारी भरी गेंदा की
तन पर खिली सारी
अति सुंदर
उठाओ
निज वक्ष ।[21]

अज्ञेय के यहां भी देह गाथा या दैहिक सौन्दर्य का उजाला कुछ इसी प्रकार है -

तुम्हारी देह
मुझको कनक चंपे की कली है
दूर से ही / स्मरण में गंध देती है
(रूप स्पर्शातीत वह जिसकी लुनाई
कुहासे सी चेतना को मोह ले) ।[22]

अज्ञेय पुष्प गंध की भांति पद्मिनी नायिका के देह की गंध को कनक-चम्पा की कली की गंध के बरअक्स रखकर स्मरण करते हैं । यद्यपि स्मरण गंध कहकर भी कवि प्रिया को छायावादी अयथार्थ का रूप नहीं देता है, बल्कि यह रूपक प्रेम

की सूक्ष्मता, सान्द्रता और गहनता को मंडित करता है ।[23] अज्ञेय `देह को कनक चंपे की कली` कह कर और शमशेर `उठाओ निज वक्ष ऊपर` कहकर प्रेम की दृष्टि से देह को निहारते हैं और प्रेम की सूक्ष्मता और उत्कटता की व्यंजना करते हैं । परन्तु यदि अशोक वाजपेयी `उसके देह के चंद्रोदय में ओंस सा भींगना` या `शरीर एक वृक्ष है ` लिखते हैं तो वह दैहिक सौन्दर्य का स्थूल वर्णन करते हुए अश्लीलता और भोग को प्रश्रय देते हैं ? शमशेर और अज्ञेय की ऐन्द्रिकता कविता का उत्कृष्ट नमूना कह उसकी उपलब्धियां गिना दी जाती हैं और अशोक वाजपेयी की ऐन्द्रिकता अश्लीलता के ठप्पे के साथ खारिज कर दी जाती है । यह ठीक है कि देहवाद का प्रदर्शन अशोक वाजपेयी के यहां समकालीन कविता के कवियों में सबसे अधिक है, पर इसी कारण इनको अस्वीकार करना उचित नहीं प्रतीत होता है । अशोक जिस दैहिक उजास की `सिम्फनी` अपनी कविताओं में प्रस्तुत करते हैं, वह `पोर्नोग्राफी` नहीं है, उसके पीछे एक पूरी जीवन चेतना का स्पन्दन धड़कता है । वहां दैहिक रंगों के इन्द्रधनुष के बहाने मानव मन की प्रणय कल्पनाओं को एक ठोस आकार प्राप्त होता है । ज्योतिष जोशी की चिन्ता इस अवसर पर स्वाभाविक लगती है — `हिन्दी के रूढ़ नैतिक समाज को शमशेर की ऐन्द्रिकता प्रिय है, पर अशोक वाजपेयी की क्यों हो ? भारतीय प्रेम कविताएं, खास कर हिन्दी प्रेम कविताएं देह से अलग होती है । इसलिए यहां के साचे में वह कविता फिट ही क्यों हो, जहां देह अपनी संपूर्णता में मौजूद हो ।[24]

देह और देह के बीच के सम्बन्ध अक्सर रोमान की सीमाओं में कैद हो कर एक क्षणिक कौंध में विलुप्त हो जाने के अभिशप्त रहे हैं । अशोक अपनी कविताओं में देह की भाषा को कुहासे में विचरण के लिए नहीं छोड़ते । देह कभी सुख की हल्की आंच में तपती है, तो कभी वह ठंड से सिहरती है, तो कभी श्यामल वैभव में अपने ही अंगों की धूप में वह तप्त होती है । अशोक के यहां देह प्रेम के विभिन्न अनुभवों से होकर गुजरती है और उन्हीं अनुभवों के उजाले के बीच स्वयं को समाहित कर देती है । वह अनुभव चाहे सूर्य का हो या आकाश

का फूल का हो या हरी वनस्पतियों का, देह अपनी संपूर्णता में सब जगह मौजूद रहती है --

जब तुम मेरी बांहों में
सांझ रंग सी डूब जाती हो
और मैं जलबिम्बों सा उभर आता हूं
तब सिर्फ आंखें हैं
जो प्रतीक्षा करती हैं मेरे लौटने की
उन दिनों मैं जब नहीं जानता था कि
दो देहों के बीच एक आकाश होता है
सूर्य आकाश ![25]

\+ \+ \+
प्रेम सूर्योदय हैं शरीर का - ।[26]

अशोक प्रेम के सघन क्षणों में भी देह को विस्मृत नहीं करते हैं । देह के प्रति यह घोर आसक्ति भारतीय संदर्भों में एक आधुनिक अवधारणा है । इन कविताओं में देह सिर्फ एक साधन नहीं है, वह साध्य भी बनकर प्रकट होती है । इसलिए देह यहां भोग का विषय नहीं होता है । अगर सुमन वर्मा की टिप्पणी को ध्यान में रखें तो - 'अशोक की कविताएं आत्यांतिक रूप से देह के बारे में होने के नाते ही जैसे वे देह के उस लौकिक मिथक का खण्डन करती हैं, जहां देह भोग का विषय (आब्जेक्ट) और विषयी (सब्जेक्ट) होती है । उनकी कविता में देह एक पण्य वस्तु (कमॉडिटी) होने की बजाय एक पुण्य वस्तु है '[27] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचतत्वों से निर्मित यह नश्वर देह कवि के लिए क्षणिक और अवास्तविक नहीं है । वह अपने सघन रूप में एक अनुभव है, जो सृजन का अनंत विस्तार अपने भीतर छिपाये हुए है --

जब से तुमने
अंधेरी उत्सुक देहों को
एक उज्जवल गुंफन में कुसुमित होने दिया है
खुल गया है द्वार एक भविष्य में ।[28]

वास्तव में अशोक के यहां शृंगार देह बोध की एक स्थिति भर नहीं है । वह एक उद्दाम अभिव्यक्ति भी है । वह प्राय: एक सघन संपूर्ण अनुभव में निरन्तर रूपान्तरित होती रहती है । इन कविताओं में देह न सिर्फ प्रेम की एक आवश्यक शर्त के रूप में प्रकट होती रहती है, बल्कि एक संपूर्ण जीवन इकाई के रूप में सामने प्रस्तुत होती है । अकारण नहीं है कि इन कविताओं में देह के साथ आत्मा भी जरूरी तरीके से जुड़ी है । यह सिर्फ देह का देह से संबंध नहीं है, बल्कि आत्मा का आत्मा से मिलन है । शायद इसीलिए प्रेम की आंच में देह तो झुलसती ही है, आत्मा भी नहीं बची रह पाती --

नहीं सिर्फ आत्मा ही नहीं झुलसेगी
प्रेम में
देह भी झुलस जायेगी
उसकी आंच से
नहीं सिर्फ देह ही नहीं जलेगी
अंत्येष्टि से
आत्मा भी भस्म हो जायेगी ।[29]

ये कविताएं इस बात की तरफ संकेत करती हैं कि देह और आत्मा पृथक् नहीं हैं । आत्मा से ही देह है और देह से ही प्रेम । आत्मा से विच्छिन्न होकर न देह का अस्तित्व है और न ही प्रेम का । इन कविताओं का प्रेम देह के साथ साथ आत्मा से भी संवेदित होते रहने के कारण `भोगवादी आख्यान` जैसे नितान्त सरलीकृत आरोपों से खुद को बचा लेती है । वैसे भी साहित्य के प्राचीन विमर्श में प्रेम को आत्मा-परमात्मा के मिलन के रूप में ही देखा जाता रहा है । यह अलग बात है कि अशोक वाजपेयी के यहां परमात्मा भी आत्मा

में बदल जाता है और प्रेम के द्वारा आत्मा-आत्मा का ही मिलन होता है । कविताओं में ईश्वरविहीन आध्यात्मिकता का मूल कारण यही है ।

कहने को कह सकते हैं कि इन कविताओं में व्यक्तिगत रूप से देह-देह के संबंधों के माध्यम से प्रेम की नयी व्याख्या प्रतिबिम्बित होती है । शृँगार या प्रेम देह के अवयवों में ही मुखरित होता है - क्योंकि 'शृँगार का यह अनुभव प्रेमी-प्रेमिका के बीच के सम्बन्ध में नहीं, देह और देह के सम्बन्धों के बीच व्याप्त है। जहां देह से देह मिलती है, जहां देह देह की प्रतीक्षा करती है, जहां देह द्वारा देह का वरण है, जहां देह द्वारा देह का स्मरण है ।'[30] अशोक वाजपेयी के यहां शृँगार सिर्फ एक लिजलिजा कर्म नहीं है (जहां संयोग एवं वियोग की गले भर डूबी भावुकता हो) बल्कि वह एक समग्र अनुभव के रूप में जीवनासंबंधों में पूरी निष्ठा और पूरे विश्वास के साथ संपृक्त है । थोड़े और स्पष्ट शब्दों में कहें तो इन कविताओं में दैहिक सौन्दर्य छिछला नहीं, बल्कि गहरा, ठोस और संतुलित है । शृँगार का ऐसा अनुभव समकालीन कविता में विरल है --

पूर्णिमा का चंद्रोदय
उसके शरीर में
और जैसे आकाश रहता है
अपरिचित अपने नक्षत्रों से ।[31]

कवि का हाथ नायिका के शरीर को तो स्पर्श करता ही है, वह उसके स्वभाव के संकोच और उसकी उत्सुकता को भी स्पर्श कर जाता है । देह के बहाने नायिका के स्वभाव, संकोच और उत्सुकता को स्पर्श कर जाना यह सिद्ध करता है कि प्रेमी सिर्फ कामुक और भोगी नहीं है, बल्कि जीवनासंबंधों में उसकी गहरी निष्ठा है । उसके लिए देह एक आलंबन है, जिसके माध्यम से वह जीवन की सूक्ष्म अभिव्यक्तियों का प्रदर्शन करता है और कहना न होगा कि यह सौन्दर्य बोध नितान्त सरलीकृत नहीं है ।

छू सकें आके हाथ
उसका शरीर

उसकी गरमाहट
उसका संकोच
उसकी उत्सुकता ।[32]

इन कविताओं में देह सिर्फ सुख की स्मृति ही बस नहीं सहेजती, वह मृत्यु को भी उसी सहजता से अपने आसपास रखती है, जितनी कि प्रेम को, जीवन के ऐन्द्रिय अनुभवों को । अशोक के यहां प्रेम का ही कलरव नहीं, मृत्यु का एकांत संगीत भी है और कवि हर वक्त उस एकांत संगीत के सम्पर्क में रहता है । वह जानता है कि देह नश्वर नहीं है, इसके बावजूद भी वह मृत्यु को भय के केन्द्र में नहीं स्थापित करता है --

वह गुनगुनाती है
समय की अंधेरी कंदरा में बैठा
कालदेवता सुनता है ।[33]

अशोक वाजपेयी की कविताओं में मृत्यु एवं प्रेम का यह अद्भुत अपूर्व सामंजस्य ही उनकी कविता को एक विशालता प्रदान करता है और यही उसे एक वृहत्तर संसार के रहस्यों की खोजबीन के लिए उकसाता है । यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस सामंजस्य का एक बड़ा खतरा यह है कि इसके द्वारा कभी कभी कवि रहस्यवादियों के खेमे में पहुंच जाता है । यद्यपि अशोक इससे कोई खतरा नहीं समझते हैं - `क्योंकि संसार के जीने और होने की, प्रेम और मृत्यु के रहस्य पर मैं भरोसा करता हूं और इसी रहस्यात्मकता को कविता में सहेजना चाहता हूं । मुझे इस कारण रहस्यवादी समझे जाने से कोई घबराहट भी नहीं है ।[34]

इन प्रेम कविताओं की एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि दैहिक शृंगार की आत्मीयता इनमें प्राकृतिक उपकरणों के द्वारा सृजित होती है, स्थूलकाय और विजड़ित होकर नहीं । अज्ञेय और शमशेर की कविताओं में भी देह का सौन्दर्य

इसी तरह प्रकृति तत्वों के उपमानों के बीच अपने सुख की तलाश करता हुआ प्राप्त होता है । अशोक वाजपेयी के यहां कभी देह के चंद्रोदय में ओंस सा भींगना है तो कभी देह का आकाश हरी घास की तरह बिछा नजर आता है, तो कभी दो देहों के बीच सूर्य उपस्थित हो जाता है । पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा, घास, ओस जैसे प्राकृतिक उपादान कहीं न कहीं इन कविताओं में देह को उसके भोगवादी मिथक से बाहर लाकर रस देते हैं और देह तब एक संपूर्ण पवित्रता हासिल कर लेती है --

पर उसकी देह का आकाश था
हरी घास की तरह बिछा हुआ
उसकी देह का समय था
हवा की तरह निरवधि
उसकी देह की धूप थी
लावण्य की तरह उज्जवल ।[35]

अशोक वाजपेयी अपनी कविता में प्रकृति का उपयोग उस प्रकार नहीं करते जैसा कि कहा गया है कि कवि ने कविता को देहवाद के लांछन से मुक्त रखने के लिए प्रकृति का चतुर उपयोग किया है । उनकी कविता में प्रकृति एक आवश्यक तरीके से देह और प्रेम के बीच के अंतर्संबंधों को प्रस्तुत करने के लिए माध्यम बनकर प्रस्तुत होती है । प्रकृति का यह सौन्दर्य ही देह को प्रेम के उस शिखर तक पहुंचा देता है, जहां से वापस लौटना संभव नहीं है, न तो कवि के लिए और न ही कविता के लिए । प्रकृति की राह से होकर प्रेम एक लंबा मार्ग तय करता है इन कविताओं में और अपने विविध रंग प्रस्तुत करता है । अकारण नहीं है कि ये कविताएं जीवन की धरातल पर सक्रिय तो रहती ही हैं, जीवन के पार एक और जीवन की कल्पना से भी ग्रहित हैं ।

अशोक वाजपेयी सच्चे अर्थों में प्रेम के स्वस्थ गान के कवि हैं । इस गान में स्त्री-देह का बखान इस अर्थ में रीतिवादी कवियों से भिन्न है कि इन कविताओं की नायिका भले ही प्रथम दृष्टि में इस लोक की स्त्रियां न लगें, परन्तु प्रेम के बहाने एक जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखने का आग्रह और

प्रेम के चरम-क्षणों में साथ-साथ सुखी होने का विधान उन्हें इसी धरती की स्त्रियां बना कर प्रस्तुत करता है, यह अलग बात है कि वह अभिजात्यता से ही रची-बसी है और अभिजात्यता में ही अर्थवान होती है । इसके बावजूद देह की विभिन्न छवियों की उदात्तता के बाद भी ये कविताएं इतनी छूट नहीं देती हैं कि इन्हें प्रेम के एक भोगवादी आख्यान के रूप में पढ़ा जाना चाहिए । यहां देह अपनी दिव्यता के वैभव में झिलमिलाती है और प्रेम अपनी उत्कटता में संवाद करता है ।

इस बात के लिए अशोक वाजपेयी की सराहना की जानी चाहिए कि एक ऐसे समय में जब समूचा कविता परिदृश्य सौन्दर्य एवं राग से हीन हो रहा है, वह देह की विभिन्न वीथियों को पूरी आस्था, निष्ठा तथा राग संवेदन से संपृक्त करके हमारे सामने चुपचाप रख जाते हैं । भारतीय समाज इधर एक बंद समाज हो चला है, उसे याद दिलाने की आवश्यकता है । वात्स्यायन ने इसी समाज में `कामसूत्र` जैसे महान् ग्रंथ का सृजन किया और कालिदास ने `कुमारसंभवम्` में पार्वती के दैहिक सौन्दर्य का विलक्षण वर्णन किया । यदि वर्जनाएं हैं तो वह टूट भी सकती हैं । अशोक वाजपेयी कवि के रूप में यह श्रेय ले सकते हैं कि उन्हें वर्जना के कुहरे को अपनी कविताओं के उजास से बहुत दूर तक कम करने का प्रयास किया है और हिन्दी कविता में देह को अपनी पूरी सौन्दर्य सम्पदा के साथ प्रस्तुत करने के बहुत सारे खतरे उठाये हैं । वास्तव में अशोक वाजपेयी ने हिन्दी कविता में प्रेम को रोमान के पारम्परिक आभूषणों में मुक्त किया और वही प्रेम उनकी कविताओं में देह के साथ अपनी सम्पूर्ण आभा लिए मौजूद है ।

(ख) प्रेम में प्रकृति का वैभव

प्राचीन युगों से ही प्रकृति मनुष्य की अतिशय कल्पना जगत का आधार रही है । प्राय: विश्व के सभी धर्ममत इस सत्य को स्वीकार्य करते हैं कि प्रकृति के विशाल प्रासाद के भीतर ही मानव ने आँखें खोलीं और उसके ही आगे भी मनुष्य जीवन संपुंजन की आधारशिला प्रतिष्ठित की । इसलिए मनुष्य का प्रकृति से एक सहज आत्मीय संवाद का रिश्ता सदैव से ही दृष्टिगत हुआ है । मानव कभी प्रकृति को किसी दैवीय शक्ति का प्रतिबिम्बन समझ कर उसके प्रति श्रद्धा से पूरित होता आया है । कहीं प्रकृति यदि उसमें जीवन का राग-रंग भरती है तो कहीं वह अपने विध्वंसक और विराट रूप में मानव मन के भीतर भय भी सृजित करती आयी है । प्रकृति को ठीक-ठीक अर्थों में परिभाषित करना एक दुष्कर कार्य है, क्योंकि वह कभी कभी अपनी परिधि को भी अतिक्रमित कर जाती है और एक विशाल आश्चर्यलोक की स्थापना भी कर देती है, जिसमें मानव मन को यह किंचित अवकाश भी प्राप्त हो जाता है कि वह कल्पना के स्वच्छंद आकाश में निर्बाध विचरण कर सके । अज्ञेय एक स्थान पर लिखते हैं कि 'साधारण बोलचाल में प्रकृति मानव का प्रतिपक्ष है, अर्थात् मानवेत्तर ही प्रकृति है । वह संपूर्ण परिवेश जिसमें मानव रहता है, जीता है, भोगता है, संस्कार ग्रहण करता है । और भी स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रकृति मानवेतर का वह अंश हो जाती है, जो कि इंद्रिय-गोचर है, जिसे हम देख, सुन, छू सकते हैं, जिसका गंध पा सकते हैं, जिसका रसास्वादन भी कर सकते हैं ।'[36]

साहित्यकार या कवि अपनी अनुभूति के तत्व प्रकृति में पिरो कर साहित्य का सृजन करते हैं । यों तो साहित्य की हर विधा में प्रकृति अपनी महिमामंडित छवि की समग्रता के साथ उपस्थित रही है, परन्तु कविता से प्रकृति का साहचर्य बहुत प्राचीन, चिरन्तन और वास्तविक रहा है जिसका कारण यही है कि कविता ही ऐसी साहित्यिक विधा है, जहां कल्पना के लिए भरपूर अवकाश रहता है, किसी भी अन्य विधा से अधिक । प्रकृति चूंकि कल्पना का पुंज होती

है । अत: कविता प्रकृति के अधिक निकट होती है । प्रकृति के मोहक एवं रहस्यमय रूपों के प्रति कवि की जिज्ञासाएं सतत् काल से कविता का साधन और कभी-कभी साध्य भी बनती आ रही हैं । प्रकृति के वैभव के बीच ही कविता आत्मा की गहराईयों से नि:सृत होकर उस नीरवता को प्रदर्शित करती है, जो प्रकृति के साहचर्य से उसके भीतर घना होता है । डा० रघुवंश ने लिखा है कि 'प्रकृति एवं काव्य सम्बन्धी विवेचना में मानव बीच की कड़ी है, क्योंकि काव्य मानव की अभिव्यक्ति है ।'[37]

भारतीय परम्परा में कालिदास प्रकृति और कल्पना के अद्भुत महाकवि हैं । उनके काव्य में प्रकृति के औदात्य के दर्शन होते हैं । विश्व साहित्य में कालिदास इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि प्रकृति उनकी कविता को अपने स्पर्श की कांति से रचती है । उनकी कविताओं में प्रकृति अपनी सम्पूर्ण सौन्दर्य एवं विराटता में प्रमुदित होती हुई दिखी है । संस्कृत साहित्य में प्रकृति काव्य की एक समृद्ध परम्परा रही है । हिन्दी साहित्य में भी यह परम्परा गहरे स्तर पर प्रतिफलित हुई । 'संदेश रासक' में अब्दुर रहमान ने ऋतु वर्णनों के माध्यम से समूची प्रकृति को अपनी सुंदरता में खोल दिया सा लगता है । रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में किया, परन्तु सेनापति या देव के यहां प्रकृति का शुद्ध एवं ऐन्द्रिक वर्णन प्राप्त होता है ।

छायावाद ने स्पष्ट और सूक्ष्म रूप में प्रकृति को अपने कथ्य की प्रस्तुति के लिए औजार के रूप में प्रस्तुत किया । 'वास्तव में छायावाद ने प्रकृति चित्रण की प्राचीनतर स्वस्थ भारतीय परम्परा को पुर्नजीवित किया'[38] । छायावाद ने प्रकृति को रीतिकालीन आडम्बरों से मुक्त किया और उसकी एक स्वतंत्र सत्ता की प्रतिष्ठा की जिसके पीछे छायावादी कवियों की प्रकृति के प्रति उत्सुकता थी, जो उनके गहन सौन्दर्य बोध से उपजी थी । डा० नामवर सिंह लिखते हैं -- 'प्रकृति से छायावादी कवि को जो यह नया आलोक मिला था, उसने सामान्य रूप से उसकी संपूर्ण जीवन दृष्टि ही बदल दी और विशेष रूप से प्रकृति संबंधी सौन्दर्य-दृष्टि । उसे पहली बार प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता का बोध हुआ ।'[39] छायावाद की ही एक अन्य विशेषता प्रकृति के मानवीकरण के

साथ-साथ वैयक्तिकरण की भी थी । यही कारण है कि सुमित्रानंदन पंत, प्रकृति को अपनी `कल्पना-प्रेयसी` के रूप में देखते हैं तो निराला उसे `संवाहिका-शक्ति` के रूप में ।[40] अज्ञेय का कहना ठीक है कि `रोमांटिक व्यक्तिवाद का स्वस्थ प्रभाव यह था कि उसने प्रकृति के चित्रों को एक नयी रागात्मक प्रामाणिकता दी` ।[41]

छायावाद प्रकृति-काव्य का प्रतिनिधि युग माना जाता है । प्रकृति अपने इस सूक्ष्म परन्तु मुखर रूप में जितनी छायावादी काव्य के युग में हुई, उतनी न तो पूर्व में हुई थी और न ही छायावादोत्तर कविता समय में । परन्तु छायावादी युग के प्राकृतिक वर्णन में प्रकृति एक कलात्मक अनुभूति लिए हुए थी । कल्पना के ही तत्वउसमें अधिक मूर्त होते थे, छायावादी कविता में व्यक्त प्रकृति का मानवीय सरोकारों से कमतर संबंध रहा, साथ ही साथ प्रकृति के आंतरिक पक्ष का प्रतिबिम्बन भी कम था । अशोक वाजपेयी अपने एक निबंध में लिखते हैं --`छायावादियों ने या तो प्रकृति के सुंदर बखान की कविता लिखी है या प्रकृति को प्रतीकात्मक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया । नए कवि ने प्रकृति के अंधेरेपन और निपट उदासीनता के साथ साथ उसकी पूरी सुंदरता को उसकी ऐन्द्रिक विविधता में उजागर करने की कोशिश की है और उसे हमेशा ही मानव स्थितियों से जुड़ा हुआ पाया है ।`[42]

छायावाद के पश्चात् की काव्यधारा में नई कविता तक पहुंचते-पहुंचते कुछ बदलाव आते हैं । इन कवियों के सम्मुख प्रकृति वर्णन की दीर्घ परम्परा में शैली, शिल्प और पद्धति के अनेक रूप थे, जिनमें आलम्बन, उद्दीपन, अलंकरण, उपदेशात्मक, प्रतीक रूप में एवं मानवीकृत आदि रूप प्रमुख हैं । नई कविता में प्रकृति का प्रतीक रूप में सर्वाधिक प्रयोग है, साथ ही प्रतीक के अलंकरण रूप का भी प्रयोग है । नारी देह या दैहिक सौन्दर्य के वर्णन के लिए प्राकृतिक उपमानों, विशेषणों एवं संज्ञाओं का नई कविता के कवियों ने भरपूर इस्तेमाल किया, जिस के कारण ही प्रकृति अभी जहां तक कल्पना का रूप थी, अब वह बिल्कुल घरेलू हो उठी । अज्ञेय की `नख-शिख` कविता में देह के लिए कनक चम्पा की कली

नेत्र भौंर की ओस बूंदें और दहकते होंठ दाड़िम पुष्प के उपमानों में प्रयुक्त होकर आते हैं।[43] शमशेर की 'सावन' कविता में अधखुली अंगड़ाईयों को 'कमल के लिपटे हुए दल कसे हैं भीनी गंध में बेहोश भौंरे को ...' जैसा अप्रतिम उपमान प्रस्तुत किया गया है, जबकि सर्वेश्वर के यहां प्रेमिका का तन हरी भरी फाड़ी के रूप में आया है। विचारपूर्वक यदि देखा जाए तो इन टटके उपमानों के कारण ही कविता में प्रकृति सौन्दर्य एवं नारी सौन्दर्य आपस में इस प्रकार तिरोहित हो जाते हैं कि इनको पृथक् कर पाना लगभग कठिन हो जाता है। अगर परमानंद श्रीवास्तव के शब्द उधार लिए जायें तो 'कविता प्रकृति राग को मानवीय आकार में और मानवीय आकार को प्रकृति राग में रचना चाहती है।'[44] कहना न होगा कि अशोक वाजपेयी प्राकृतिक उपमानों के द्वारा दैहिक सौन्दर्य को विस्तार देने के प्रयोग में अज्ञेय और शमशेर की ही परम्परा को पुनर्जीवित करते हैं।

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं के परिदृश्य में प्रकृति अपनी पूरी धज, पूरे सौन्दर्य बोध और सम्पूर्ण रागात्मकता में उपस्थित रहती है। इन कविताओं में प्रकृति एक ठस कैनवास नहीं है। वह अपने पूरे वैभव के साथ प्रेम में सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करती है। उनकी कविताओं के कंटेन्ट (तत्व) एवं फार्म (रूप) में प्रकृति आँचक नहीं आती है, इसीलिए वह अधिक पवित्र और विशाल प्रतीत होती है। कवि अपने प्रेम का अक्सर प्रकृति के राग में तलाशता हुआ घूमता है -

तुम जो एक निश्चल आकाश हो
इतने मेघाच्छन्न होने के बावजूद अकलंक
तुम जो पवित्र हो
एक बच्चे की अबोध प्रार्थना की तरह
तुम / धरती
तुम / बारिश
तुम / हरियाली।[45]

इन कविताओं में गतिशील प्रेम एवं प्रकृति के मध्य निरन्तर आवाजाही है, और विचारपूर्वक देखें तो यह आवाजाही कभी विखंडित नहीं होती है क्योंकि कवि निरन्तर इस आवाजाही के प्रति सतर्क है । प्रकृति और स्त्री देह के बीच की रस्सी पर टंगा हुआ प्रेम इन कविताओं में कभी चलता हुआ प्रकृति के उजास के पार हो आता है तो कभी स्त्री देह की प्रमुदित गहराइयों को अपने स्पर्श की आंच से पिघला आता है । परन्तु वह इन दोनों को कभी अलगाकर प्रस्तुत नहीं करता है --

> वह हरी घास का गोरा बिछौना है ...
> वह झरना है ससंकोच पत्थरों के बीच
> बहता हुआ ।[46]

अशोक की कविताओं में प्रकृति सिर्फ एक बाह्य आवरण के रूप में ही प्रतिबिम्बित नहीं होती है, बल्कि कहीं न कहीं वह जीवनानुभवों से संपृक्त होकर प्रकट होती है । वास्तव में कवि प्रकृति के इस विराट अनुभव को बीहड़ता, जड़ता और निरी उपयोगिता को हमारे सामान्य अवरोध से बाहर लाकर उसे जीवन रस से स्पन्दित एक सौन्दर्यपूर्ण, मांसल और आत्मीय सच्चाई के रूप में पाने का उद्यम करते हैं । इसीलिए प्रकृति इन कविताओं में मांसलता, आत्मीयता, सौन्दर्य एवं स्पन्दन से भरी हुई है । जीवनानुभवों को प्रकृति के माध्यम से एक अलग स्पर्श देना या यह कहें कि प्रकृति को जीवन में तलाश कर उसे एक स्वस्थ, सुखद और शुभ्र रूप प्रदान करना ही इन कविताओं की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । यही कारण है कि `प्रकृति एक `कमॉडिटी` (भोग्य) के रूप में नहीं है, इसके विपरीत उसमें वह जीवन सौन्दर्य है, जो जीवन और सौन्दर्य की हमारी अवधारणाओं और अनुभवों का स्रोत है ।`[47] स्त्री देह और जीवन के प्रति कवि संवेदना व्यापक रूप में उत्पन्न होती है और उन्हें प्राकृतिक उपकरणों के औजारों से लैस करके कवि एक विराट सृष्टि की संरचना इन कविताओं में करता है । प्रकृति के प्रतीक रूपों में बदलते रहने का कारण भी यही है -

नीले आकाश के रक्ताभ होने
मेघों के कामातुर झुकने
हरसिंगार के फूल चुने की जगह
थोड़ी सी जगह
वहीं मैं तुम्हें प्यार करूंगा ।[48]

प्रेम कविताओं में प्राकृतिक तत्वों का उपयोग अशोक के बहुत पूर्व ही होता आया है । अतीत की ओर जायें तो प्रयोगवादी कवियों अज्ञेय, शमशेर, सर्वेश्वर, केदारनाथ सिंह के यहां प्रतीक रूप में प्राकृतिक तत्वों का भरपूर उपयोग हुआ है । थोड़ा और पीछे जायें तो छायावादी कविता और उत्तर छायावादी कविता समय में (नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, शिवमंगल सिंह सुमन, भवानी प्रसाद मिश्र आदि) प्रकृति प्रेम के विभिन्न प्रतीकों का रूप धर कर प्रस्तुत हुई हैं । हिन्दी कविता में प्राकृतिक प्रतीकों की एक सम्पूर्ण परम्परा ही प्रतीत होती है, जो कि यह स्पष्ट करता है कि प्राकृतिक दृश्यों और प्रतीकों के द्वारा प्रेम की सूक्ष्म व्याख्या और उसका निदर्शन पहले भी होता आया है, अशोक वाजपेयी उसी परम्परा को आगे बढ़ाते हैं । अज्ञेय ने लिखा है --

भोर !चोरी से नहीं
अनजाने अचानक
तुम्हें झरने पर देखा
अहा ! ऐसे धुलते हैं तार सोने के
ऐसे मंजता है कुंदन
ऐसे मानों ओस के प्रभा मंडल से घिरा हुआ
पार की धूप में चमक उठता है सोने का फूल ।[49]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के यहां यही प्रतीक रूप प्रेम में सिक्त होकर कुछ इस प्रकार आता है -

तुम्हारी मुस्कान
कोहरे से छन कर नहीं

सीधी धूप सी आती है
जैसे सुबह-सुबह चिड़ियों का गान
तुम्हारी मुस्कान ।[50]

अशोक वाजपेयी की कविता में प्रेम का प्रतीकात्मक रूप जहां अपने समूचे वैभव के साथ उत्पन्न होता है, वहीं पूरी प्रकृति अपनी ध्वन्यात्मकता में उस प्रेम के पार्श्व में खड़ी रहती है ।दूसरे शब्दों में कहें तो प्रकृति के रंगमंच पर अपने प्रेम को अशोक अभिनीत करते हैं । वह पूरी प्रकृति को अपनी कविता में उतार पाने का अथक् उद्यम करते हैं - क्योंकि उनके यहां प्रकृति सिर्फ एक चित्र विधान नहीं है, उसमें एक सुखद जीवन की भी कामना का विश्वास है । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह विश्वास अचानक ही नहीं उत्पन्न हो जाता है, वह विभिन्न प्रक्रियाओं से गुजरते हुए वहां तक पहुंचता है । यह प्रक्रियाएं रूप सौन्दर्य भी हैं और रति की उत्कटता भी । रूप सौन्दर्य को प्रकृति के बरअक्स रखकर, बल्कि पिरोकर अशोक कविता का एक अपूर्व विधान प्रस्तुत करते हैं जिसमें उनकी ऐन्द्रिकता भी है, मांसलता भी है और आत्मीयता भी । सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्रकृति नायिका की ही तरह गतिशील है, पार्थिव और सजावटी वस्तु नहीं । प्रकृति के प्रति कवि की यही आसक्ति, मोह और व्यग्रता उसको प्रेम के अनुभवों के संपुंजन के लिए तैयार करती है --

उरोजों के बीच लगभग अदृश्य पर जगमगाते सम्पुट में
चम्पा का फूल
प्रसन्न युग्म के बीच किंचित हंसी सा
फूलों पर जैसे फूल की ही छाया
श्रुति की तरह ।[51]

इन प्रेम कविताओं में प्रकृति अपने प्रतीक रूपों में पूरी व्यापकता से फैली है । वह केवल प्रेम का बखान भर नहीं करती है, बल्कि प्रेम को एक

इन कविताओं में ऐसा नहीं है कि प्रकृति सिर्फ नायिका के रूप सौन्दर्य का आलम्बन होकर आती है, वह उसके यौन आकांक्षा को भी स्वर देती है, यौन कामना को भी मुखरित करती है । नायिका के (बल्कि नायक के) यौन-कामनाओं को विस्तार देकर उसे परत-दर-परत खोलती हुई प्रकृति जहां उसे भोग बनने से रोकती है, वही एक अनुपम सौन्दर्य भी प्रदान करती है । अकारण नहीं है कि अपने खुले रूप में भी यौन प्रतीक यहां अज्ञेय की तरह यौन-कुंठा को स्वर नहीं देते हैं, और न ही उस कुंठा की आकुलता को व्यग्रता में प्रस्तुत करती है, बल्कि यौन भावनाओं का पुंज यहां एक उत्सव की तरह प्रस्तुत कर होता है । अज्ञेय जहां लिखते हैं --

घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले
भूमि के कंपित उरोजों पर झुका सा
विशद्, श्वासाहत, चिरातुर ।[52]

... वहीं अशोक वजपेयी लिखते हैं --

उसने अपने प्रेम के लिए जगह बनाई
बुहारकर अलग कर दिया तारों को
सूर्य, चंद्रमा को रख दिया एक तरफ
वन लताओं को हटाया
पृथ्वी को झाड़ा-पोंछा
और आकाश की तहें ठीक कीं ।[53]

स्पष्ट है कि अज्ञेय कल्पना रूप में प्रतीकों का निर्माण करते हैं, जबकि अशोक के यहां यह यौन-उत्कंठा या यौन-उत्सव जीवन की गहरी घाटियों से कच्चे और ताजे दूध की तरह बाहर आता है । समूचे प्रकृति के वैभव को अशोक एक अलग सा स्पर्श दे देते हैं और निश्चय ही इस स्पर्श के मूल में उनका गहन ऐन्द्रिय आवेग है। डा० परमानंद श्रीवास्तव कहते हैं - `कि वृक्ष वही है, वह ी सुबह, वही कुहरा, वही बसन्त, वही चंद्रोदय । परन्तु अशोक इन्हें नए ऐन्द्रिक

आवेग से अपने काव्यानुभवों के बीच ले जाते हैं और इन्हें सिर्फ दृश्य बनाने की जगह गहरे स्तर पर संवेद्य बनाते हैं, दूसरी ओर अनुभव प्रत्यक्षा को फिर से रचने की प्रक्रिया में प्रत्यक्षा अनुभवों को गंवा नहीं देते हैं ।'[54]

यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो अशोक की ये कविताएं प्रकृति के उपभोग का साधन मात्र नहीं हैं और न ही अशोक अपने देहवाद के उत्सव को ढांपने के लिए प्रकृति का समुचित एवं सार्थक उपयोग करते हैं ताकि कविता पोर्नोग्राफी के आसन्न खतरे की जद में न समा जाये । जीवन के समग्र अनुभवों की तरह प्रेम के भी सघन अनुभव को कविता में सहजते हुए ठीक-ठीक उसी रूप में व्यक्त करना पोर्नोग्राफी नहीं है, बल्कि यौन भाव को कुंठा की सीमा से निकाल कर उत्सव की परिधि तक ले जाने का ईमानदारी भरा प्रयास है । इन कविताओं की सुखद ऐन्द्रिकता पोर्नोग्राफ के पनियाले कुहरे को छांट कर देह और प्रकृति के सूक्ष्म अर्थ सम्बन्धों को उनके उदात्त रूप में प्रस्तुत कर उन्हें दिव्यता, विशालता और गरिमा प्रदान करती है । अजीत चौधरी कहते हैं -'इन कविताओं की ऐन्द्रिक चेतना की किरणें देह युगल के प्रिज्म के पार होकर प्रकृति के विराट कैनवास पर बहुवर्णीय रंगों की आभा बिखेरती हुई विकीरित हो जाती हैं ।'[55]

अशोक वाजपेयी की कविता प्रकृति और स्त्री देह के अन्तर्सम्बन्धों की इसी पारदर्शिता को आधार बनाकर अश्लीलता से टकराती है - यह अवश्य है कि इन कविताओं में देह के भूगोल और उसकी मांसलता के प्रति अधिक उत्सुक है कवि परन्तु इस उत्सुकता में यदि एक जिद्दी आक्रामकता है तो कोमल भावनाओं का प्रस्फुटन भी --

तुम रहो धूप में
हरियाली में
अपने यौवन के वैभव में
मुझे थोड़ा सा स्थान दे दो
जहां मैं यह शब्द रख सकूं
जहां मैं अपनी कामना चित्रित कर सकूं ।[56]

इन प्रेम कविताओं में कवि की ऐन्द्रिक चेतना इतने समीप से प्रकृति के सौन्दर्य को पकड़ती है कि वह कल्पना न रहकर समीप की वास्तविकता प्रतीत होती है । कविताएं क्योंकि प्रकृति के रस से ही रची-बसी हैं, अत: वे जड़ नहीं हैं, उनके पोर-पोर में जीवन का स्पन्दन, जीवन का सौन्दर्य और जीवन की आत्मीयता का स्पर्श समाया हुआ है । कवि-दृष्टि प्रकृति के प्रति हमारे प्रमाद के अन्धेरे को भेदते हुए उस दृश्य के सामने ले जाती है, जहां यह प्रकृति अज्ञान के अंधकार में जुड़ी जड़ता न होकर एक लीलारत चेतना की सक्रियता बटोरती है ।[57] यही कारण है कि अशोक प्राकृतिक दृश्यों के द्वारा जीवन के उस पार भी देखने की उत्सुकता इन कविताओं में संजोये रहते हैं । कवि की यह उत्सुकता जीवन के दोनों परिसीमनों को एक नवीन आलोक स्फुरित दृष्टि प्रदान करती है । इसीलिए कवि प्रेम के बहाने धरती, आकाश, नक्षत्र, ब्रह्माड और अनन्त के पार हो आता है और साथ ही साथ उनकी रहस्यात्मकता, जो अभी तक आश्चर्य का विषय थी, उसे टटोल कर सामने ले आ पाने में सक्षम होता है --

वह लोक लेगी
पृथ्वी को अपने हाथों में
वह खोलेगी
आकाश को / पृथ्वी को / अंतरिक्ष को / अपने को /
मुझे ।[58]

प्रकृति के प्रति निरन्तर सजग और उत्सुक रहने वाले कवि अशोक मानवीय सम्बन्ध की गहरी अपेक्षाओं और उनकी क्लांत जिजीविषा को बहुत ही कलात्मक ढंग से फैलाते हैं । परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं - 'प्रकृति के प्रति निरंतर उत्सुकता अशोक वाजपेयी की कविता का स्वभाव है । यह वह न्यूनतम पूंजी है, जिसे लेकर अशोक कविता के निकट जाते हैं और उसे अधिकतम अर्थ देकर कविता का समग्र समावेशी चरित्र बनाते हैं ।

वह आ गयी है

दूब पर आ गयी है ओस
ओस पर आ गयी है धूप पर आ गयी है बारिश
पर आ गयी है हरियाली ।[59]

इन कविताओं में प्रकृति और प्रिया की बहुवर्णीय छवियां हैं । अशोक प्रकृति और प्रिया के सहारे अपने प्रेम का तंत्र खड़ा भी करते हैं और विकसित भी करते हैं । प्रकृति और प्रिया अपने अपने वास्तविक अर्थों को अतिक्रमित करते हुए इतने पास-पास आ जाते हैं कि वे लगभग एक-दूसरे का स्थानापन्न बनने की प्रक्रिया में समावेशित होते हुए से दिखते हैं । प्रेम और प्रिय का लगभग तात्विक ढंग से प्रकृति में विलय अशोक वाजपेयी की कविता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । यद्यपि प्रिया की यह छवि बहुत धीरे-धीरे सामने आती है, फिर भी वह लम्बे समय तक प्रेम और प्रकृति के इन गलियारों की आदिमता में भटकती रहती है तथा अपने लावण्य के उद्वेग में सनकती रहती है --

उसके हाथ फूलों की तरह
ओंस भीगें और शांत
उसके हाथ पक्षियों की तरह
भाग जाने को विकल ।[60]

प्रकृति का प्रिया के उपांगों की तरह अचानक ही प्रकट होना और समूचे ब्रह्माण्ड को स्त्री देहयष्टि के अवयवों में मिला देना चमत्कृत तो कर ही जाता है, साथ ही साथ अशोक प्रिय-समागम के बहाने चांद, सूर्य, पृथ्वी, वनस्पतियों को इतने नजदीक ला देते हैं कि वे मात्र वर्णन तक ही सीमित न रह कर सक्रिय क्रियाशीलता के उपकरण (टूल्स) हो जाते हैं । उल्लेखनीय है कि कवि का रंग-संयोजन भी अपूर्व है । रंगों का ऐसा अद्भुत संयोजन शायद समकालीन कविता में शमशेर के अलावा किसी के यहां नहीं दिखता है --

मैं बिछाता हूं धरती का हरा बिछौना
मैं खींचता हूं आकाश की नीली चादर
मैं सूर्य, चंद्रमा के दो तकिये सम्भालता हूं

मैं घास के कपड़े हटाता हूं ।[61]

रति भावनाओं के निदर्शन का पूरा प्रयास इन कविताओं में है । साथ ही साथ भोगवादी होने के खतरे भी, परन्तु अशोक प्रेम की इस स्थिति को प्रकृति सेसजाते हैं और कहना न होगा इससे काफी हद तक अश्लीलता को प्रकृति के यौन बिम्बों की सपाटबयानी से बचा ले जाते हैं और एक ऐसा मनोरम दृश्य विधान प्रस्तुत करते हैं - जिसमें प्रेम, प्रकृति और जीवन लगभग साथ-साथ धड़कते हैं । यदि देह की उपस्थिति और उसका उद्दाम चित्रण इन कविताओं में आरोपित की हुई नहीं लगती है तो इसका एकमात्र कारण प्रकृति का सार्थक उपयोग ही है, कवि कविता को देहवाद के लांछन से मुक्त रखने के लिए प्रकृति का चतुर उपयोग करता है, जिससे संवेदन शरीराक्रान्त हो जाने से थोड़ा बच जाते हैं ।[62]

प्रकृति के साथ आमने-सामने का यह संवाद अशोक के प्रेम कविताओं की अपनी खास विशेषता है, जिसमें न तो वह देह की पवित्रता नष्ट होने देते हैं और न ही प्रकृति के विशाल सौन्दर्य लोक को कारित करते हैं । प्रकृति इन कविताओं में आम फहम आदत की तरह विद्यमान है, इसीलिए अशोक के कविता संसार में वह वस्तुत: एक स्पेस (शून्य) का निर्माण करती है, जिसमें कवि-कर्म घटित होता है, यह स्पेस (शून्य) ही प्रकृति को एक खास घरेलूपने से जोड़ता है । रमेशचन्द्र शाह ठीक ही कहते हैं - 'अशोक वाजपेयी की कविता मेंसमूचे ब्रह्माण्ड को घरेलू बना लेने की ठेठ हिन्दुस्तानी जिद भी है और वैसी ही उत्सवधर्मिता भी' ।[63]

अशोक की इन कविताओं में प्रकृति कहीं से भी इम्पोज (आरोपित) की हुई नहीं प्रतीत होती है, बल्कि वह प्रेम के गहन ऐन्द्रिय अनुभवों से ही गुजर कर कविता के एक जरूरी हिस्से के रूप में प्रस्तुत होती है । यहां अशोक वाजपेयी का कहना सही लगता है कि वह पड़ोस के कवि हैं । प्रकृति की जैसी पड़ोसाना अभिव्यक्ति इन कविताओं की रचना में संलग्न है, उससे यह स्पष्ट होता है कि

प्रकृति उनके लिए सिर्फ कल्पना की वस्तु नहीं है, जिससे कवि अपने प्रेम का गुंजलक बुनता है, बल्कि वह कहीं कवि के पड़ोस में भी रहती है, जब उसकी जरूरत कविता में होती है, कवि उसे ले आता है । कहने का आशय यही है कि प्रकृति इन कविताओं में केन्द्रीय रूप निभाता है ; हां यह कहना कठिन है कि कविताओं में प्रेम प्रकृति से निःसृत होता है या प्रकृति प्रेम से । ईश्वर, अंतरिक्ष, अनन्त आदि भी यहां प्रकृति के अंश के ही रूप में आये हैं --

जैसे आकाश तुम्हारे कंधों पर
वस्त्र की तरह पड़ा है
कि नूपुरों की तरह
बंधे हैं फूल और नक्षत्र
तुम्हारे चरणों ।[64]

जिस प्रकार से प्रकृति उनकी कविताओं में प्रेम के आंगन में टहलती है, उससे यह प्रतीत होता है कि प्रेम स्वं प्रकृति के अलग-अलग खाने उनके यहां नहीं है । कवि सुन्दरता में, उजास में और ऐन्द्रिकता में जीने वाला कवि है और वह यह सौन्दर्य, उजास, ऐन्द्रिकता प्रेम व प्रकृति से सम्मिलित रूप से प्राप्त करता है । वह दोनों के ही माध्यम से सुख का विधान करता है । वह सुख हंसी में भी उत्पन्न होती है और दैहिक सौन्दर्य के उजाले से भी --

धीरे से फूटता उसके अंगों से उजास
पल्लवों - पताकाओं के बीच
धीरे से होता है सूर्यास्त
धीरे से उसका शरीर होता है अरुणाभ ।[65]

अशोक वाजपेयी की कविता में फूल, चिड़िया, दूब, पत्थर, झुरमुट, सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, प्रभा, धूप, पृथ्वी, वनलताएं, अनंत, आकाश आदि शब्द बार-बार लौटते हैं । अगर ध्यानपूर्वक देखें तो उपरोक्त सारे प्राकृतिक

तत्व प्रकृति के शुभ, सुखद रूपों की ही अनुभूति व्यक्त करते हैं । अत: यह धारणा स्पष्ट होती है कि अशोक की कविता में प्रकृति का शुभ्र और सुखद रूप ही प्रस्तुत हुआ है । वह प्रकृति के विविध रंगों, आवृत्तियों को ही जीवन में भी उतारने के जिज्ञासु हैं, उनकी कविता में जीवन एक उल्लास और सम्मोहन बनकर प्रस्तुत होता है, उसमें न पूर्वग्रह है, न ही संत्रास और न ही तथाकथित महान विचारों का मोटा पुलिन्दा । अरुण कमल कहते हैं --`अशोक जिजीविषा और रसिकता के कवि हैं, उनकी कविताएं जीवन के प्रति सम्मोहक आमंत्रण हैं, उन में जीवन का उल्लास है ।`[66]

प्रकृति हरे रंग से अधिक भरी होती है, किसी अन्य रंग की अपेक्षा । हरा रंग जीवन की सुखदता का द्योतक है । हरा रंग प्रकृति को उसकी रागात्मकता में सराबोर करने के साथ ही साथ जीवन को भी ऊर्जावान करता है । प्रकृति के उसी हरे रंग से अशोक सम्मोहित हैं । प्रस्तुत संग्रह या उसकी अन्य कविताओं में भी हरे रंग का भरपूर उपयोग है । चाहे वह हरी घास हों, हरी वनस्पतियां हों, हरे रोयें हों या फिर हरी गुनगुनाहट ही हो । हरीतिमा उनका प्रिय शब्द है और इसी के सहारे पर वह जीवन की सुखदता और ऊर्जस्विता का विधान करते हैं । अज्ञेय के भी प्रियप्रतीकों में से एक हरी घास भी थी --

> नमो खुल खिलो, सहज मिलो
> अन्त:स्मित, अन्त:संयत हरी घास सी ।[67]

जीवन ऊर्जा हरियाली की शक्ल में अशोक की प्रेम कविताओं में एक काव्य-मूल्य की तरह उपस्थित है । कहने की आवश्यकता नहीं हरा रंग जीवन के साथ ही साथ प्रेम को भी एक आत्यांतिक ऊर्जा प्रदान करता है । अशोक का कवि इन कविताओं में हरीतिमा को जीवन की उजास के बरअक्स जांचता-परखता है । के. सच्चिदानंदन ने सही लिखा है - कि `अशोक वाजपेयी अपनी काव्य भाषा हरी पत्तियों के व्याकरण में ढूंढते हैं ।`[68]

ओस छूती है हरीतिमा को
चुपचाप
पंखुरी खुलती है धूप में
अंधेरे में जड़ें
चट्टान पर दस्तक देती हैं ।[69]

हरा रंग, बसंत, आम्र मंजरियां, बनलता, गुलमोहर, अमलताश, पलास, दूब, हरसिंगार आदि प्रकृति उपकरण जीवन की सुखद स्थितियों की व्यंजना करते हैं और अशोक की कविता में यह बार-बार लौटकर आते हैं । अर्थात् सुख उनकी कविता में बार-बार लौटते हैं और हर बार नए होकर[70] । वह अपनी कविता में जीवन का शुभ्र, स्वस्थ गान गाते हैं और आज के इस यथार्थवादी, क्रान्तिकारी कविता समय में, जब प्रेम और प्रकृति के सुखद और रागधर्मी क्षणों को यदि विजय बहादुर सिंह के शब्द उधार ले कर कहें तो डोम की तरह[71] कविता की बस्ती के बाहर धकेल दिया गया है । पूरी गंभीरता, सहजता और जिम्मेदारी के साथ वापस लेकर लौटते हैं ।

अज्ञेय, शमशेर की ही तरह अशोक वाजपेयी की कविताओं में प्रकृति बहुत समीप है, इतना कि उसे हाथ बढ़ा कर छुआ जा सकता है । 'प्रेम के रूपक' नामक कविता में प्रेमिका के प्रेम प्रस्ताव (प्रणय-निवेदन) कवि प्रकृति के ही माध्यम से करता है, जिससे वह एकांतिक और स्टीनी न होकर गतिशील रूप में निखर उठता है । हरियाली पर पहली ओस, आकाश के विस्तार में लीन होते अंतिम पक्षी और कीड़ों की मर्मर ध्वनि के बीच कवि का प्रेम 'पुनरपि ज्वलंत सूर्य की लालिमा' की तरह उपस्थित है । प्रकृति के निर्व्याज सौन्दर्य के बीच कवि अपने सुख दुख को अपने अद्वितीय कौशल से उद्घाटित करता है । अनायास नहीं है कि कवि-सुख प्रकृति-सुख में रूपान्तरित हो जाता है -

एक दिन मुरझाने की प्रतीक्षा से दुखी
या अंतत: झर जाने की नियति से उदास

नहीं है अमलतास या गुलमोहर
उन्हें जितना समय मिला है
उसी में प्रसन्न खिले हैं
इस समय को अपने रंग में रंगते हुए
पंखुरी-पंखुरी चुनते और बिखरते सुख
मैं इसी सुख का प्रस्ताव करता हूं ।[72]

प्रकृति और देह अक्सर ही अशोक की कविताओं में एक दूसरे के पर्याय होते-होते रह जाते हैं । देह राग का विषय यदि सिर्फ तृप्ति, आनंद एवं भोग हो तो एक संकीर्णता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और परमानंद श्रीवास्तव का यह कथन बहुत तर्क संगत लगता है कि -`तृप्ति, भोग की यह संकीर्णता ही कभी कभी प्रकृति की उन्मुक्तता को भी कृत्रिम विलास में बदल देती है ।`[73] अशोक की कविताओं में इस कृत्रिमता की काफी गुंजाइश है, फिर भी देह से होकर प्रकृति तक और प्रकृति के रास्ते देह में पहुंचना उनकी अपनी विशेषता है --

वृक्ष एक शरीर है
पृथ्वी के शरीर से उगता हुआ और अटूट
फूल तभी तक फूल है, जब तक वह एक अंग है
वृक्ष का ।[74]

अशोक के यहां कविताओं में प्रकृति के विशाल फलक का उपयोग करते हुए इनको अपने `कंटेन्ट ` (फार्म) का भी हिस्सा बनाकर चलते रहने की अपनी विशेषता है, क्योंकि कवि प्रकृति तत्वों के प्रति अति जिज्ञासु है । प्रकृति के भीतर तक जाकर ॥ जांच-पड़ताल करने का कार्य करना और उन्हें शब्दों में पिरोकर कविता को एक नवीन अर्थवत्ता से संप्रेषित करने के मूल में यही उत्सुक्ता कार्य करती है । अर्थ के स्तर जब कविताओं में खुलने लगते हैं तो समूची सृष्टि प्रेम के साथ एकाकार हो उठती है ।

पेड़, पौधों, फूल, पत्तियों, धूप जैसे तत्वों की निरन्तर आवाजाही इन कविताओं में तो रहती है, परन्तु आश्चर्यजनक से कवि की सूक्ष्म, पैनी दृष्टि से चट्टान के नीचे केलिरत कीड़ों की पंक्तियां भी बची नहीं रह पाती हैं, और न ही वह रंगबिरंगी तितलियां, जो फूलों पर घूमती रहती हैं। कवि प्रकृति से गठजोड़ के कारण ही इन जीवों से निरन्तर एक संवाद बनाए रखने का प्रयास करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कवि इन कविताओं में प्रकृति के समूचे परिदृश्य को बांचता हुआ चलता है और प्रकृति केछोटे-छोटे अंशों को भी कविता का हिस्सा बनाता है। प्रकृति के समूचे राग बोध के साथ तादात्म्य स्थापित करने का यह कवि प्रयास समकालीन कविता की एक महत्व-पूर्ण विशेषता है। चट्टानों के नीचे केलिरत कीड़ों की पंक्तियां कवि की इसी सूक्ष्म दृष्टि की परिचायक हैं --

> उनके पास पूरी पृथ्वी थी
> चट्टानों को घेरे वनस्पतियां थीं
> वनस्पतियों के आस-पास मंडराती तितलियां थीं
> नीचे धीरे-धीरे केलिरत कीड़ों की पंक्तियां थीं।[75]

अशोक साफ अर्थों में प्रकृति का वर्णन नहीं करते हैं, बल्कि प्रकृति को आलम्बन बनाकर उस पर प्रेम का महल खड़ा कर लेते हैं और उसे स्थूल होने से भी बचा लेते हैं। शब्दों द्वारा प्रकृति का रचाव और उसके द्वारा स्त्री-देह और उसके प्रेम का प्रस्फुटन वस्तुत: कविता में प्रेम को पाने का उपम है, जैसा कि मदन सोनी कहते हैं --`कि नारी देह का शब्द से यह प्रति-स्थापन (रिप्लेसमेंट) नर-नारी के प्रेम की रूपक कथा रचने की युक्ति नहीं है और न ही यह कविता के माध्यम से या कविता में प्रेम को पाने की युक्ति है। यह एक कवि का कविता को अपने रति-भाव (लिबिडो) के आलम्बन के रूप में पाने का उपम है। एक ऐसी देह को पाने का उपम जो `शब्दों के परमाणु-पराग से रचित और शब्द में स्पन्दित है`।[76]

इन कविताओं में प्रकृति का बार-बार विभिन्न रूपों एवं कवियों के साथ आना एक अपूर्व सुख का सृजन अपने बेहद निजी क्षणों में करता है। यही कारण है कि अशोक की कविता विशिष्ट और निजी का तिरस्कार नहीं करती है, बल्कि निजत्व को और अधिक गहरा बनाती है।[77] वैसे भी प्रेम प्रकृति का यह अन्तर्सम्बन्ध कोई नया नहीं है। कालिदास, सूरदास, छायावाद, प्रयोगवाद और नई कविता के दौर तक ये अन्तर्संबंध अपने विशिष्ट रूपों में स्पष्ट हुए हैं। छायावाद तो प्रेम-प्रकृति की शानदार अभिव्यक्ति का युग ही रहा है। पंत कहते हैं --

ऐ असीम सौन्दर्य सिंधु की
विपुल वीथियों के शृंगार
मेरे मानस की तरंग में
पुनः अनंग बनो स्वीकार।[78]

छायावाद के सबसे ऊर्जस्वित और क्रांतिशील कवि निराला भी इस अन्तर्संबंधों के प्रकटीकरण में स्वयं को नहीं रोक पाये हैं --

कांपते हुए किसलय, झरते पराग समुदाय
गाते खग नव जीवन परिचय, तरु मलय वलय
ज्योति-प्रपात स्वर्गीय, ज्ञात छवि प्रथम स्वीय
जानकी नयन कमनीय, प्रथम कंपन तुरीय।[79]

अशोक वाजपेयी के यहां यह अन्तर्संबंध अपने और उदात्त रूप में प्रस्तुत होता है, बल्कि थोड़ा और आगे बढ़ कर कहें तो प्रेम, प्रकृति तथानारी देह आपस में गहराई से वहां घुल-मिल जाते हैं --

प्रेम उसे बहुत हल्के से छुएगा
जैसे हवा छूती है
पलाश में जागते पलाश के फूल को

जैसे रात देर गये
चूमती है ओंस की बूंदें
घास की हरी नोंक को ।[80]

प्रकृति के संज्ञा, विशेषण के रूप में इन कविताओं में उभरती है, इन्हीं विशेषणों के द्वारा अशोक नारी देह की भव्यता को अनुभूति प्रदान करने की सायास चेष्टा करते हैं । अज्ञेय, शमशेर, केदारनाथ सिंह के यहां भी उपमान एवं विशेषण अपनी पूरी अर्थक्ता को सार्थक अभिव्यक्ति देते हुए प्रतीत होते हैं । अज्ञेय अपनी नख शिख कविता में नारी देह को इसी प्रकार के टटके उपमानों से व्यंजित करते हैं और प्रकृति को उसके बहुत ही समीप कर देते हैं --

तुम्हारी देह
कनक चंपे की कली है
दूर से ही स्मरण में गंध देती है ।[81]

देह वर्णन के बाद होंठ व नैन बस ! अज्ञेय नारी देह के वर्णन में परम्परा के प्रति अत्यंत सजग रहते हैं, परन्तु अशोक केयहां स्थिति थोड़ी सी भिन्न है, वह सिर्फ रूप वर्णन करके ही संतुष्ट नहीं हो जाते हैं, बल्कि वह इन्हीं संतुलन साधती संज्ञाओं और विशेषणों के सहारे रति तक का सफर करते हैं --

मैं बिछाता हूं हरा बिछौना
मैं खींचता हूं आकाश की नीली चादर
मैं सूर्य और चंद्रमा के दो तकिये सम्भालता हूं
मैं घास के कपड़े उठाता हूं
मैं तुमसे केलि करता हूं ।[82]

अशोक इस तरह की वर्णनात्मक प्रस्तुति के द्वारा अपनी उस परम्परा के प्रति विद्रोह करते हैं, जिसमें नारी देह का सौन्दर्य मात्र नख-शिख वर्णन से ही प्रस्तुत होता है । सुमन वर्मा की टिप्पणी बहुत अधिक सटीक है यहां कि अशोक वाजपेयी की कविता अपने समकालीनों के प्रति विद्रोह करती कविता कही जा सकती है ।[83] नारी देह का यह प्रतिस्थापन अपने ढंग में अजब और अनूठा है । सिर्फ इसलिए नहीं कि वह वर्णनाओं को अति क्रमित करता है, बल्कि इसलिए भी कि ये कविताएं प्रकृति और देह के अवयवों की सूक्ष्मतर परन्तु स्पष्ट व्याख्या करती है । साथ ही यह कवि के इस विश्वास को भी आधार प्रदान करती है कि प्रकृति के और जीवन से निस्सार नहीं है -

हम नहीं बचेंगे
पर बची रहेगी
ऐसे ही हरी घास की नोंक पर,
चमकती ओस पर
पहला आघात करती किरण धूप की ।[84]

O

संदर्भ

1. थोड़ी सी जगह : अशोक वाजपेयी, पृ0 45
2. संभवा - सं0 ध्रुवनारायण गुप्त, पृ0 39
3. छायावाद : डा0 नामवर सिंह, पृ0
4. वही, पृ0
5. सुधीश पचौरी (जनसत्ता - दिल्ली) दिनांक 12-2-95
6. थोड़ी सी जगह, पृ0 48
7. वही, पृ0 76
8. साक्षात्कार : सं0 ध्रुव शुक्ल (जनवरी-मार्च 1995), पृ0 137
9. थोड़ी सी जगह, पृ0 27
10. साक्षात्कार : सं0 ध्रुव शुक्ल (जनवरी-मार्च 1995), पृ0 125
11. थोड़ी सी जगह, पृ0 54
12. एक साक्षात्कार : अशोक वाजपेयी (पंकज सिंह के साथ), माया (इलाहाबाद)
13. साक्षात्कार : सं0 ध्रुव शुक्ल, अगस्त 95, पृ0 30
14. थोड़ी सी जगह, पृ0 153
15. सुधीश पचौरी - जनसत्ता, दिल्ली, दिनांक 12-2-95
16. थोड़ी सी जगह, पृ0 97
17. वही, पृ0 33
18. वही, पृ0 34
19. साक्षात्कार : सं0 ध्रुव शुक्ल(अगस्त 94), पृ0 75
20. थोड़ी सी जगह, पृ0 23
21. कुछ और कविताएं - शमशेर बहादुर सिंह, पृ0 58
22. बावरा अहेरी - अज्ञेय, पृ0 34
23. अज्ञेय काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन : फुलवंत कौर, पृ0 184
24. साक्षात्कार - सं0 ध्रुवशुक्ल (जनवरी-मार्च 95), पृ0 133
25. थोड़ी सी जगह, पृ0 59

26. थोड़ी सी जगह, पृ0 76
27. साक्षात्कार - सं0 ध्रुव शुक्ल (अगस्त 94) पृ0 76
28. थोड़ी-सी जगह, पृ0
29. वही, पृ0 147
30. साक्षात्कार :सं0 ध्रुव शुक्ल (अगस्त 94) पृ0 74
31. थोड़ी सी जगह, पृ0
32. वही, पृ0 39
33. वही, पृ0 69
34. अशोक वाजपेयी से साक्षात्कार (कृष्ण मोहन झा) - राष्ट्रीय सहारा (दिनांक 31-12-91)
35. थोड़ी सी जगह, पृ0 130
36. क्षम्बरा (भूमिका) - अज्ञेय, पृ0 6
37. प्रकृति और काव्य - डा0 रघुवंश, पृ0 9
38. अज्ञेय : प्रकृति काव्य - काव्य प्रकृति : संजय कुमार, पृ0 15
39. छायावाद : डा0 नामवर सिंह, पृ0
40. अज्ञेय - प्रकृति काव्य - काव्य प्रकृति : संजय कुमार, पृ0 15
41. क्षम्बरा (भूमिका) : अज्ञेय, पृ0 6
42. फिलहाल : अशोक वाजपेयी, पृ0 166
43. अज्ञेय काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन : डा0 फुलवंत कौर, पृ0 152
44. साक्षात्कार : सं0 सोमदत्त (जनवरी-फरवरी 1985), पृ0 149
45. थोड़ी सी जगह, पृ0 43
46. तिनका-तिनका : अशोक वाजपेयी, पृ0 307
47. साक्षात्कार : सं0 ध्रुव शुक्ल (अगस्त 1994) पृ0 76
48. थोड़ी सी जगह, पृ0 19
49. अरी ओ करुणा प्रभामय : अज्ञेय, पृ0
50. प्रतिनिधि कविताएं - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पृ0 33
51. थोड़ी सी जगह, पृ0 105

52. अज्ञेय (नंदा देवी शृंखला), सदानीरा, पृ०
53. थोड़ी सी जगह, पृ० 51
54. साक्षात्कार : सं० सोमदत्त (जनवरी-फरवरी 1985), पृ० 147
55. साक्षात्कार : सं० ध्रुव शुक्ल (जनवरी-मार्च 1995), पृ० 137
56. थोड़ी सी जगह, पृ० 29
57. साक्षात्कार : सं० सोमदत्त (जनवरी-फरवरी 1985), पृ० 149
58. थोड़ी सी जगह, पृ०
59. वही, पृ० 95
60. वही, पृ० 83
61. वही, पृ० 63
62. साक्षात्कार (अप्रैल-जून 1988) पृ० 133
63. साक्षात्कार : सं० ध्रुव शुक्ल (जनवरी-मार्च 1995) पृ० 94
64. थोड़ी सी जगह, पृ० 68
65. तिनका-तिनका : अशोक वाजपेयी, पृ० 367
66. समकालीन भारतीय साहित्य : सं० गिरिधर राठी, पृ० 140
67. हरी घास पर क्षण भर : अज्ञेय, पृ० 246
68. के. सच्चिदानंदन (टाईम्स आफ इंडिया - 19-2-95)
69. थोड़ी सी जगह, पृ० 157
70. महेश आलोक (नवभारत टाईम्स) 30-8-1992
71. ये कोहरे मेरे हैं : भवानी प्रसाद मिश्र, सं० विजय बहादुर सिंह, पृ० 9
72. थोड़ी सी जगह, पृ० 10
73. साखी : सं० डा० केदारनाथ सिंह, पृ० 97
74. थोड़ी सी जगह, पृ० 18
75. वही, पृ० 53
76. साक्षात्कार : सं० ध्रुव शुक्ल, पृ० 30, अगस्त 95

77. साक्षात्कार : सं० सोमदत्त (जनवरी-फरवरी 1985) पृ०12०
78. गुंजन : सुमित्रानंदन पंत, पृ०47
79. राग-विराग : निराला, पृ० 94
80. थोड़ी सी जगह, पृ० 47
81. बावरा अहेरी : अज्ञेय, पृ० 47
82. थोड़ी सी जगह, पृ० 83
83. साक्षात्कार : सं० ध्रुव शुक्ल (अगस्त 1984) पृ० 72
84. थोड़ी सी जगह, पृ० 148

00

अध्याय तीन

`थोड़ी सी जगह` के बहाने अशोक वाजपेयी की प्रेम दृष्टि की विवेचना

खण्ड क : प्रेम की संवेदना

खण्ड ख : प्रेम की परिकल्पना

अध्याय - तीन

`थोड़ी सी जगह` के बहाने अशोक वाजपेयी की प्रेम-दृष्टि की विवेचना

खण्ड - 1

`थोड़ी सी जगह` की संवेदना :

मैं प्रस्तावित करता हूं
थोड़ी देर के लिए
सब कुछ को, इस समूचे बीहड़ संसार को
अपनी परिक्रमा में रत इस पृथ्वी को
भूलने, तजने, छोड़ने को
और सिर्फ उस स्पंदन को सुनने को
जो परस्पर हम दोनों का है ।[1]

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताएं इसी आत्मीय स्पंदन की संवेदना पर टिकी हुई हैं, जो प्रेम के एक अनोखे संसार का दिग्दर्शन कराती हैं और उसी में यह बोध भी निरन्तर कराती रहती हैं कि प्रेम के लिए संसार और पृथ्वी की बीहड़ता को त्यज कर एक नए लोक की सृष्टि करें । अशोक वाजपेयी के यहाँ प्रेम अपनी सहज मानवीय स्थितियों में संपूर्णता का बोध लिए उतरता है । जीवन के अशुभ पक्षों और अनुभूतियों को अपनी प्रेम कविताओं के लिए लगभग अस्वीकार करते अशोक पूरी तौर पर ऐन्द्रिकता, कोमलता में रचे-पगे दिखते हैं । यह ऐन्द्रिकता, कोमलता उनके यहां अनायास नहीं आती है, बल्कि एक जिद् के तहत आती है । अशोक वाजपेयी स्वयं मानते हैं कि `जीवन में अभी

भी सुंदरता, कोमलता एवं ऐन्द्रिकता काफी है और उन्हें अपनी रसिकता के चलते नजरअंदाज करना न तो मुझे जरूरी लगा और न ही कविजनोचित।[2]

प्रेम संबंधों की कविताओं को आम तौर पर जीवन जगत से च्युत माना जाता है। सर्वमान्य धारणा है कि प्रेम संबंधों की कविताएं वैयक्तिक आग्रहों एवं निजी सरोकारों की कविताएं होती हैं। परन्तु यह समझना बहुत मुश्किल है, निजता अथवा वैयक्तिकता तो आखिरकार सामाजिक ढाचे से ही निकली होती है, फिर वह समाज से च्युत कैसे हुयी? अशोक वाजपेयी की कविताओं में यदि प्रेम-गंध और दैहिक स्पर्श है तो इन्हीं सब के बीच में अदृश्य रूप से उस का समय और काल विशेष भी उपस्थित रहता है। यह अवश्य है कि सामाजिक जीवन में यदि एक ओर सुख की आद्यान्त लहरें उपस्थित होती हैं तो दूसरी तरह दुःख, निराशा एवं आत्मपीड़ा की काली लकीरें भी रहती हैं, परन्तु अशोक के यहां जीवन के शुभ्र विधेयात्मक रूप ही उन जीवनानुभवों से तलाश कर कविता के अंग बनाये जाते हैं और इसी के सहारे एक नए जीवन-जगत की सृष्टि वे इन कविताओं में करते हैं। डा० कृष्णचन्द्र लाल कहते हैं - 'अशोक की प्रेम कविताओं में प्रामाणिक जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति हुई है, जिनमें जीवन-यथार्थ के क्रोड से एक सुखद स्वप्न में छलांग लगाने की बेचैनी विद्यमान है। वे वर्तमान में शेष हो जाने वाले कवि नहीं हैं।[3]

उसकी दिगम्बरता एक आकाश है
जिसमें उसका भी आकाश छुपा है
उसकी धूप में गरमाहट है
उसकी आंच की
उसके सुख में घुला है उसका भी हर्ष।[4]

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं में प्रेम की जिस प्रकार से उत्पत्ति होती है, उसका कारण कवि द्वारा अपनी ऐन्द्रिकता को एकनिष्ठता में परिणत कर उसे व्यापक रागात्मकता से जोड़ देना है और तब प्रेम का

सम्पूर्णता में प्रकट होना है। इसी संपूर्णता के कारण इन कविताओं में भावनात्मक प्रेम (वायवीय या अशरीरी नहीं) कल्पना की ऊंची उड़ान भरता हुआ प्रेम की विभिन्न छवियों (देह, काम, सौन्दर्य) के बीच से होकर गुजरता है। देह और काम प्रेम से अलग नहीं है, बल्कि उसी के महत्वपूर्ण उपादान हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्रेम के स्वरूप निर्धारण हेतु निम्नांकित तत्वों का उपयोग माना है - (1) काम (सेक्स) की शारीरिक प्रवृत्ति, (2) सौन्दर्यानुभूति (3) अनुराग, (4) श्लाघा और सम्मान, (5) स्वत्व अनुभूति, (6) वैयक्तिकता से संबंधनों से उन्मुक्त कार्य स्वातंत्र्य, (7) सहानुभूति का उत्कर्ष।[5] स्पष्ट रूप से प्रेम का सबसे बड़ा उपकरण काम(सेक्स) की शारीरिक प्रवृत्ति ही है। गलदश्रु भावुकता का प्रेम तो रोमान के पालने में झूलने वाले प्रेम का एक स्थूल सरलीकरण मात्र है। पर इस टिप्पणी से यह भी आशय नहीं है कि भोग या काम ही प्रेम है। काम प्रेम हो भी नहीं सकता क्योंकि काम दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निमग्न होता है तो प्रेम मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु। अशोक वाजपेयी की कविता दैहिक एवं मानसिक अनुभूतियों के एक निश्चित पारस्परिकता में गूंथ कर उन्हें प्रेम के करीब ले जाती है। अर्थात् इनमें प्रेम और काम का समुचित 'बैलेंस' है। नन्दकिशोर आचार्य कहते हैं - 'प्रेम एवं रति यदि अशोक के काव्य लोक में रंग भरते हैं तो इसलिए कि देह के प्रति प्रेम के बिना जीवन के प्रति प्रेम केवल एक अवधारणा बन कर रह जाता है। यह देह ही है, जिसके माध्यम सेहम प्रेम की अनुभूति कर सकते हैं और यह प्रेम ही है जो देह को सार्थक अनुभूति में बदल देता है।[6]

अशोक पारस्परिकता के आग्रह को अतिरिक्त महत्व देते हैं। यह पारस्परिकता प्रकृति के भीषण कोलाहल में और त्वरित गतियों में संवेदना की निरन्तरता की अनुभूति कराती रहती है। इसी निरन्तरता में प्रेम एवं देह दोनों ही संवेदनात्मक धरातल पर अवयस्थित दिखाई देते हैं --

प्रेम उसे बहुत हल्के से छुएगा
जैसा हवा छूती है

उषा में जागते पलाश के फूल को
जैसे रात देर गये
चूमती है ओंस की बूंदें
घास की हरी नोंक को ।[7]

इस संसार में जो अशोक निर्मित करते हैं अपनी कविताओं के लिए, उसमें रति, तृप्ति और स्त्री-देह की उजास छवियों की प्रस्तुति विभिन्न रंगों में होती है । कई कोणों से अलग-अलग ये सारी स्थितियां उतर कर आती हैं और एक निश्चित बिन्दु पर एकाकार हो उठती हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि वह बिन्दु प्रेम का ही है । शायद यही कारण है कि अशोक वाजपेयी का प्रेम रति, भोग, तृप्ति, रोमान आदि सभी तत्वों से मिल कर निर्मित होता है । किसी एक की स्वतंत्र सत्ता या प्रेम के रूप में उसका अनुशीलन यहां सम्भव नहीं है । इसीलिए पीछे कहीं कहा जा चुका है कि प्रेम अपने समग्र रूप में ही इन कविताओं में प्रकट होता है । प्रेम के इस विमर्श के केन्द्र में दैहिक, मानसिक, काल्पनिक, एवं भौतिक सभी रूपों का अच्छा सामंजस्य अशोक बिठाते हैं, इसी से ये कविताएं न तो निरी भावुक रोमान की कविताएं लगती हैं और न ही निरे भोग की ।

आध्यात्मिकता के स्तर पर किया गया प्रेम सिर्फ वायवीय एवं अपार-दर्शी होकर रह जाता है और वह प्रेम तब प्रेम न होकर भक्ति का स्वरूप अपने लिए निर्धारित कर लेता है । छायावाद के पतन के कारणों में एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि प्रेम वहां अपनी जमीनी वास्तविकता त्याग कर कल्पना में ही दिन गुजारने लगा था । डा० देवराज ने लिखा है कि `छायावादी कवि प्राय: अनुभूति के मर्म स्थल में घुस नहीं पाते थे, वे कल्पना द्वारा उसकी सतह को छूते और वर्णित करते रहते थे ।`[8] इलहॉम डिलमैन कहते हैं कि `शुद्ध लगाव और चाहत प्रेम को अनुपस्थित कर देते हैं और वह अपना यौन चरित्र खोने लगता है ।`[9] जैनेन्द्र कुमार भी शरीर के योग को प्रेम में आवश्यक मानते

हैं, परन्तु प्रेम को भोग बना देने के खिलाफ है[10]। अशोक वाजपेयी के यहां शरीर का आग्रह है और यह प्रेम को परिपक्वता प्रदान करता है, परन्तु वही आग्रह जब कभी कभी आत्मनिर्वासित होकर भोग के खेमे में शामिल हो जाता है, तो भोगवादी प्रेम के अतिरिक्त कुछ और नहीं रह जाता है । भोग से तृप्ति, पाने की कवि की यह जिद्द उसकी अनेक कविताओं में प्राप्त होती है, परन्तु यहां यह भी कहना आवश्यक है कि यह भोग आक्रामक और पशुवत होकर नायिका के अंगों को नहीं झिंझोड़ता, बल्कि शालीन एवं संयत होकर जीवन की एक महती आवश्यकता के रूप में ही प्रस्तुत होता है --

उस गहरे नीले अंधेरे में से
आलोक स्फुरित होकर उगने से पहले
एक दस्तक सुख के द्वार पर
एक और थपथपाहट आलस्य भरी
तृप्ति के उद्गम पर ।[11]

यह आरोप अक्सर ही इन कविताओं पर लगता है कि ये प्रेम कविताएं अपने जीवन के अस्तित्व से च्युत हैं, इनमें जीवन सिर्फ प्रेमी-प्रेमिका के बीच ही धड़कता है । यह ठीक है कि इन कविताओं में निजी सुख और अभिव्यक्ति की अभिव्यंजना है, परन्तु यह कहना अतिशयोक्ति ही होगी कि ये सामाजिक जीवन से च्युत है । यह अवश्य है कि ये सामाजिक जीवन के ब्यौरों की तफसील में जाने से स्वयं को बचाती हैं और कवि अपने ढंग से इस निजी दुनिया को बनाने की कल्पना करता है । यहां इस पर भी ध्यान देना होगा कि इस सक्रिय दुनिया से अलग एक निजी दुनिया बसाने का कवि यह आग्रह पलायनवाद नहीं है और न ही अपनी आवश्यकताओं से दूर जाने का प्रयास । पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं --`अशोक वाजपेयी की कविता न तो आत्मसंघर्ष से पलायन करती है और न ही जीवन-संघर्ष से । वे संघर्ष का विशद आख्यान भी नहीं रचते, न अपने व्यक्ति जीवन के संघर्ष का । उनकी कविता संघर्ष का आख्यान रचने की बजाय संघर्ष के संकल्प, उसके समकालिक अस्तित्व और उसकी स्मृति को संवेदना के बेहद निजी और आत्मीय अनुभव की तरह धारण करती है ।`

तुमने सिर्फ मुझे नहीं चूमा
तुमने चूमा
मेरे स्पंदित तार-मंद्र जीवन को
सुदूर बचपन को
सभी प्रेमों को
प्राचीन जन्मकथा को
विस्तृत जन्मान्तरों को
अंत:सलिल सुखों और सुकुमार दु:खों को ।[12]

यह सही है कि इन कविताओं में तनाव नहीं है, न जीवन का, न संसार का और न ही प्रेम का । ये दुख की कविताएं नहीं, सुख के विधान की सृष्टि में अग्रसर होनेवाली कविताएं हैं । यही कारण है कि कविताएं किसी तनाव की सृष्टि करती नहीं प्रतीत होती हैं, जबकि प्रेम सिर्फ सुखद अभिव्यक्तियों का ही उद्यम नहीं है, संयोग एवं वियोग दोनों रूप मिल कर प्रेम का निर्माण करते हैं । अशोक के यहां का प्रेम चूंकि वियोग रहित है, अत: तनावहीन है । रोलां बार्थ प्रेम में दु:ख को अनिवार्य मानते हुए कहते हैं -'कि पीड़ा अनिवार्य है, उसके बगैर प्रेम की भावना को ठीक-ठीक परिभाषित नहीं किया जा सकता है' ।[13] स्पष्ट है कि अशोक वाजपेयी के यहां प्रेम का यह रूप परिदृश्य से लगभग गायब है । बावजूद इस तनाव की अभिव्यक्ति के खालीपने के, अशोक के यहां प्रेम अपनी सहज मानवीय स्थितियों में पुष्पित-पल्लवित होता है । नई कविता के अग्रणी कवियों सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय के यहां जो प्रेम कविताएं पायी जाती हैं, उनमें प्रेम सामाजिक दबावों और व्यवहारिक जीवन की कठिनाईयों के बीच से ही उभरता है । जबकि अशोक वाजपेयी की कविताएं शमशेर की ही तरह तत्व सामाजिक जीवन से प्रेम को अनुपस्थित कर उसे सिर्फ निजी अभिव्यक्तियों का साधन मात्र मानती हैं । अशोक की इन कविताओं में सहज मानवीय सरोकारों की अभिव्यक्तियाँ प्रकट होती हैं । यह बात अलग है कि इन मानवीय सरोकारों का दायरा सीमित (संकीर्ण नहीं) है और अपने

विस्तृत फलक के बावजूद दो देहों की शारीरिक और दैहिक अनुभूतियों के बीच की आवाजाही में ही निमग्न रहता है । निजी आवाजाही की इसी निरन्तरता के लिए अशोक इस यथार्थ जीवन से दूर एक कल्पना लोक की सृष्टि करने के प्रयास में तत्पर दिखते हैं । ऐसा लोक जो ऐन्द्रिक संरचनाओं से परिपूर्ण हो और जहां सुख, प्रकृति और रति की कलात्मकता का विधान निर्मित किया जा सके --

चलो कहीं और चलते हैं
जहां प्रार्थना झरती हो नीम के बौर सी नीरव
जहां पृथ्वी की परिक्रमा करता हो सूर्य
जहां चंद्रमा तुम्हारे उरोजों के बीच दिपता हो
जहां धूप मेरी अंजलि में यौवन की तरह एकत्र हो ।[14]

स्पष्टत: निजी काल्पनिक लोक के निर्माण का यह कवि-आग्रह पलायन-वाद का संदर्भ नहीं उपस्थित करता है । अगर वह प्रेम के अमरत्व को बचाने के लिए इस भीड़-भाड़ की जटिल दुनिया में एक निश्चित ठौर खोजने में प्रयत्न-शील है तो इसका सिर्फ एक तर्क है कि जीवन की व्यस्त झंझावातों से झुंझला कर प्रेम के पौधे को हरा-भरा रख सकने के लिए बस इसी दुनिया के बरअक्स एक अलग किन्तु समानान्तर जगत की खोज में कवि सक्रिय है । सुरेश शर्मा कहते हैं --`इन प्रेम कविताओं में प्रेम करने की स्वतंत्र इच्छा की उमंग तथा जटिल परिस्थितियों के बीच संपूर्णता से उसे जीवन में न उतार सकने का तनाव ही उन्हें प्रेम के स्पंदन को महसूस करने के लिए एक अलग जगत की तलाश में सक्रिय बनाता है` ।[15]

सुषमा भटनागर इसे बाह्य प्रतिघातों से प्रेम को सुरक्षित रखने के संदर्भ में देखती हैं --`बाहरी दुनिया से कट कर एक अलग स्वायत्त, निजी दुनिया बसाने का कवि का यह आग्रह है, ताकि प्रेम इन सामाजिक चक्रवातों से सुरक्षित रह सके ।`[16]

चलो कहीं और चलते हैं
जहां समय चांदनी सा शीतल बिछा हो
जहां गाते हों पत्थर और सुनते हों पेड़
जहां टपकते हों शब्द भोलश्री की तरह ।[17]

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं में प्रेम सिर्फ स्थूल सपाटबयानी के रूप में नहीं प्रस्तुत होता है, बल्कि प्रेम के प्रति एक पवित्रता का बोध रहता है, वह जीवन के राग बोध को अपने भीतर जीवित रखता है । नंदकिशोर आचार्य कहते हैं - `जीवन की पवित्रता का भाव ही ऐन्द्रिकता को पवित्रता में बदल देता है और उसी के कारण एक सहज जैविक क्रिया जीवन को सार्थकता देने वाली सर्जनात्मक अनुभूति में बदल देती है` ।[18] अशोक के यहां यही अनुभूति अपनी स्पष्टता में प्रतीत होती है, इसलिए ये प्रेम कविताएं ऐसी अकेली प्रेम कविताएं हैं जो प्रेम को माध्यम बना कर जीवन को एक सर्जनात्मक अवधारणा का स्थान देती हैं ।डा० मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है -`कि प्रेम सर्जनात्मक भाव है । वह जीवन एवं काव्य में सृजन की प्रेरक स्थिति है` ।[19] रविन्द्रनाथ टैगोर ने एक जगह लिखा था कि `प्रेम चेतना की पूर्णता है । प्रेम केवल एक भाव नहीं है, वह एक सत्य है, वह एक स्थायी आनंद का स्रोत है, जो सभी प्रकार के सृजन के मूल में अन्तर्निहित होता है ।`[20] स्पष्ट रूप से अगर देखें तो अशोक वाजपेयी की कविता में एक विशिष्ट प्रकार का सर्जनात्मक भाव छिपा है जो अपने प्रेम को नित नूतन रंगों में खिलते रहना देखना चाहता है । इस प्रेम के अक्षुण्ण सौन्दर्य को बचाने केलिए अशोक अक्सर ही शब्दों का एक जटिल वाग्जाल बुन देते हैं और कभी-कभी तो इस जटिलता में बौद्धिकता के भारीपने का भी प्राधान्य हो जाता है, जो कविता को उसकी सहजता में तो अतिक्रमित कर ही जाता है, साथ ही साथ प्रेम को भी कुछ विशेष ढंग की आध्यात्मिकता का स्पर्श देकर उसे वायवीयता की परिधि के बीच खड़ा कर देती है । मिथिलेश श्रीवास्तव का कहना है कि इन कविताओं में प्रेम एवं

बौद्धिकता का अलग-अलग साक्षात्कार होता है । प्रेम एवं बौद्धिकता को कविता में अलग-अलग करके देखना मुश्किल है । बौद्धिकता प्रेम के प्राकृतिक प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है और प्रेम का अबौद्धिक रूप अव्यवहारिक होने लगता है । प्रेम जब निर्विकार होने लगता है तब बौद्धिकता के साथ सहज संबंध जोड़ने लगता है ।[21] बौद्धिकता एवं वायवीयता अशोक की इन कविताओं को पारदर्शी नहीं रहने देती है, ताकि कविता के पार का संसार स्पष्ट रूप से दिखाई दे सके । यही कारण है कि इन कविताओं के पात्र हाड़-मांस के मनुष्य न लगकर एक अलग सृष्टि के आए प्रतीत होते हैं, जिनके भीतर न किसी हताशा या निराशा के लक्षण हैं और न ही किसी प्रकार की सामाजिक अतिरंजना उनके प्रेम में है । यथार्थ जीवन के किसी कचोट से उनकी मुलाकात रास्ते में भी नहीं होती है । अगर मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में कहें तो इस प्रकार का प्रेम मानवीय उल्लास से आध्यात्मिक आह्लाद की तरफ बढ़ता है ।[22] कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यवहारिकता से दूर अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए रहस्यवादी साधना की जरूरत कवि को अक्सर पड़ती ही रहती है --

समय बहता रहा अविरल
नक्षत्रों का आलोक
दिगन्तों के पार रहा संपुजित
वनस्पतियां अपने हरे स्पन्दन में
वैसी ही रहीं उदग्र ।[23]

अशोक वाजपेयी की कविता में प्रेम की सम्पूर्ण स्थितियां अपने पूरे राग-बोध के साथ मौजूद हैं । इसीलिए वे कहीं रोमान में प्रेम को ले जाते हैं, तो कभी रति राग के कामी कवि के रूप में स्वयं को सिद्ध करने के प्रयास में लगे रहते हैं । कहीं प्रेम को देह की मांसलता के बरअक्स रखते हैं तो कहीं प्रकृति के आलोक में प्रेम को महिमामंडित होते हुए देखना चाहते हैं । इन कविताओं में देह कहीं आलंबन स्वरूप प्रस्तुत होता है तो कभी प्रकृति आलंबन का रूप धर कर

सामने आती है । देह एवं प्रकृति की यह आंख मिचौली प्रेम को उसकी ऐन्द्रिकता से संवाद करने के लिए उकसाती रहती है । प्रेम के स्थायी भाव में काम, देह, प्रकृति आदि तत्व उसके सहायक के रूप में प्रस्तुत होते हैं । ये उपांग महत्वपूर्ण हैं, जो प्रेम को `विक्टोरियन नैतिकता` की संकीर्ण चाहरदीवारी से निकाल कर उसको उसकी सार्थक भूमि पर खड़ा करने का आत्यांतिक प्रयास करते हैं और यदि यह कहें तो गलत न होगा कि अपने इस प्रयास में ये कविताएं निर्बाध रूप से सफल रहती हैं । डा० कर्ण सिंह चौहान इस पुस्तक की समीक्षा में कहते हैं कि 'इन कविताओं में शरीर भी है, मांसलता भी, अनजाना रहस्य भी, सहवास संभोग भी है और उसके साथ संपूर्ण प्रकृति का निर्व्याज सौन्दर्य भी'।[24]

ढलती रात के कोमल आकाश में
नीचे की ओर झुका चंद्रमा था
और वह थी
उसका निरावृत शरीर था
अपने युवा वैभव में एकत्र ।[25]

इन कविताओं में देह की एक आवश्यक भूमिका है । अशोक देह को अपनी सम्पूर्ण अर्थच्छटाओं एवं भंगिमाओं के साथ कविता में ले आते हैं । यह कहना गलत न होगा कि इन कविताओं की प्रेम संवेदना आद्यांत रूप से दैहिक परिदृश्य के ठीक बीचों-बीच खड़ी है । देह को बरज कर प्रेम संभव नहीं होता और न ही कवि की अनुभूति । प्रेम में देह की ऐसी उद्दाम उपस्थिति हिन्दी कविता कर्म में इस पर्याप्तता और गहराई के साथ न तो अशोक के पूर्व आयी थी और न ही उनके बाद आने की संभावना है । हां, अज्ञेय, शमशेर और सर्वेश्वर के यहां देह प्रेम से अनुरक्त होकर भी कभी-कभी उभरता है, पर यदि शमशेर और कुछ सीमा तक अज्ञेय को भी छोड़ दें तो बाकियों के यहां देह का कैनवास इतना व्यापक और विस्तृत नहीं हो पाता है । अशोक वाजपेयी की कविताओं से यह साफ-साफ स्पष्ट है कि देह से इतर प्रेम की कोई अवधारणा नहीं है और न ही उस प्रेम के पूर्णता में आने की संभावना है जो

देह विहीन हो । देह से ही प्रेम उजपता है और उसी की उपस्थिति से पूर्ण होता है । देह से अलग प्रेम की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, प्रेम देह में ही रचा-बसा होता है । कहना न होगा कि इन कविताओं में कवि देह को विखंडित करके प्रेम का एक नया पाठ प्रस्तुत करता है । नंदकिशोर आचार्य टिप्पणी करते हैं कि 'देह के प्रति प्रेम के बगैर जीवन के प्रति प्रेम केवल एक अवधारणा बन कर रह जाता है । यह देह ही है, जिसके माध्यम से हम प्रेम की अनुभूति कर सकते हैं और यह प्रेम ही है जो देह को एक सार्थक अनुभूति में बदलता है ।'[26] अकारण नहीं है कि देह देह में घर बसाती है --

दूसरी देह के निबिड़ एकान्त
संध्या की विलम्बित लय पर
देह अपना घर बसाती है ।[27]

देह एवं रति प्रेम की एक महत्वपूर्ण आवश्यकताएं ही नहीं, बल्कि जीवन की भी मूलभूत आवश्यकताएं हैं - क्योंकि रति सभी मानवीय सम्बन्धों का आधार है और इसकी गति लोक जीवन से लेकर दिव्य साधना तक है । पुरुष एवं प्रकृति, नर-नारी के पूर्ण एकात्म रागात्मक संयोग की अभिव्यक्ति रति में होती है । नर-नारी का मनोदैहिक प्रेम मानव समाज की अत्यंत प्राचीन अवधारणा है और यह प्रेम योग मानव मन की सौन्दर्य भावना, अनुभूति एवं बोध का केन्द्र बिंदु रहा है । प्राचीन काल (आदि काल एवं भक्ति काल) में विद्यापति, सूरदास से लेकर रीतिकाल (जो कि स्त्री-सौन्दर्य एवं रति का ही युग रहा है) तक विभिन्न कवियों द्वारा प्रेम एवं दैहिक रति के इस मधुर सामंजस्य का विशाल चित्र प्राप्त होता है । सूरदास का पद है --

लटें उघारी कहीं छूटि छूटि आनन पै
भीजै हैं फुलेलनि सौं अलि हरि संग केलि
सोधे अरगजा अरु मरुगजी सारी अंग
कहूं दरकी कुचन पर अंगिया नवेली ।

नैन अरसात अरु बैनहूं अटपटात
जाति रड़ाति गात गोरी बहियान मेली ।
सूर प्रभु प्यारी प्यारे संग करिह रंग रास
अरस-परस दोऊ अंक म धरयौ हैं मेलि ।[28] । । 2638

जयदेव के यहां --

व्यालोल: केशपाश स्तरलित मलकं स्वेदलोलौ कपोलौ
स्पष्यदष्यधर श्री कुचकलशरूचा हारिता हरियाष्टि ।[29]

- थोड़ा और पीछे जायें तो `कुमारसंभवम्` में कालिदासने पार्वती के अंग-प्रत्यंगों का जो मनोहारी वर्णन किया है, वह रूप सौन्दर्य की दृष्टि में अपूर्व है ।

एतावता नन्वनुमेय शोभि कान्चीगुणास्थानमनिनिन्दिताया:
आरोपितंयद्धिरिशेन पश्चादजन्य नारीक्षनीय मंकम् ।।[30]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि हिन्दी काव्य के प्राचीन युग में भी दैहिक अनुभूतियों और रति केविह्वंगम दृश्य प्राप्त होते रहे हैं । अशोक वाजपेयी दैहिक सौन्दर्य की परम्परा वहीं से प्राप्त करते हैं एवं उसी परम्पराबद्ध प्रेम को अपनी पूरी संभावनाओं और विशिष्टताओं के साथ ग्रहण करते हुए उसे आधुनिकता के साथ पुनर्सृजित कर अपनी कविताओं में उपस्थित करते हैं । यदि चाहें तो यह कहा जा सकता है कि अशोक की ये कविताएं परम्परा और आधुनिकता के मध्य एक संवाद-सेतु की भूमिका का निर्वाह अपनी पूरी जिम्मेदारी के साथ करती हैं । इन कविताओं में जो देह अपनी पूरी धज के साथ उपस्थित रहता है, वह कलुषित वीभत्स अथवा अश्लील नहीं प्रतीत होता है, बल्कि वह दिव्यता एवं पवित्रता के आलोक में लिपटा हुआ रहता है, जिसे छूने के लिए एक पल के लिए ठिठक सा जाना पड़ता है । इसीलिए नंद किशोर आचार्य ठीक ही कहते हैं कि'देह अशोक की कविताओं में एक पावन सौन्दर्य है

और प्रेम इस सुंदरता में किया जाने वाला पवित्र स्नान'।[31] कविताओं की आधारभूमि पर अपनी मांसलता (मांसल पवित्रता) एवं दिव्यता के कारण देह एक नवीन प्रकार की देह सर्जना की ओर उन्मुक्त होती है जो तृप्ति तक पहुंचती है --

उस गहरे नीले अंधेरे में से
आलोक-स्फुरित होकर आने से पहले
एक दस्तक सुख के द्वार पर
एक और थपथपाहट आलस्य भरी
तृप्ति के उद्गम पर ।[32]

देह से केलि तक की यात्रा अशोक की कविताओं की एक जरूरी पहचान है । यही कारण है कि वे कविताएं अधिक महत्वपूर्ण हैं, जो देह की सुरंगों से होकर प्रेम तक पहुंचती हैं। ऐसी कविताओं से गुजरते हुए मानवीय उष्मा का सितार देर तक मन के आंगन में बजता रहता है जो हमारी प्रेम-संवेदना का जहां यथोचित परिष्कार करता है, वहीं उसे धारदार बना सकने के भी यत्न करता है । कवि के यहां प्रेम से देह तक का यह दौर वर्जित नहीं है, परन्तु कभी कभी बेहद अनावश्यक हो जाता है जब केलि, रति के अंधाधुंध प्रयोग बेवजह की ऊब न पैदा करने लगते हैं एवं पवित्रता के आलोक में मंडित मन वासनात्मक संवेदनों की - प्रक्रिया में शामिल हो जाता है । अशोक केलि के विभिन्न उपकरणों का प्रयोग कविता में करते हैं और नायिका को उन उपमानों से सजाते रहते हैं । यद्यपि यह कहें तो गलत न होगा कि यह प्रेम एकपक्षीय ही अक्सर प्रतीत होता है । संग्रह की लगभग सौ कविताओं में एक-दो को छोड़ कर कहीं प्रेमिका का कोई आत्मसंवाद कवि से नहीं है । प्रेमी ही जो चाहता है, करता है, प्रेमिका उसके किसी कृत्य का कभी कोई विरोध नहीं करती है । यहां प्रेमिका एक सलज्ज नायिका की तरह बैठी रहती है, प्रेमी जहां चाहता है, उसको सजाता है, चूमता है और रति के विभिन्न कलाओं का उसे दर्शन कराता है । यही कारण है कि यह प्रेम अक्सर ही दासता में परिणत होने लगता है । विष्णु खरे अपनी एक समीक्षा में

कहते हैं -'कि इस प्रकार के प्रेम के अकेले कवि हैं अशोक हिन्दी में, परन्तु उन की कविताएं नारी-देह पर पुरुष का विजय-भाव ही प्रदर्शित करती हैं'।[33] देह के आडम्बरपूर्ण वैभव के बीच प्रेम का यह सूक्ष्म समारोह कहां लुप्त हो जाता है, पता नहीं चलता है । कविताओं की केन्द्रीय संवेदनात्मक धुरी होते हुए भी प्रेम कभी कभी देह की महिमा के आगे नि:सहाय प्रतीत होता है । इसलिए यह नारी देह गढ़ी हुई देह नहीं लगती है और न ही यह प्रेम धरती का सामान्य प्रेम प्रतीत होता है -

इतनी सी जगह में
वह आकाश कैसे है
सपुंजित पर असीम
इतने पास और अस्पृश्य
कितने नक्षत्रों से भरा हुआ
वह दिगम्बरा
न पृथ्वी के बिछौने पर
न आकाश के नीचे ।[34]

अशोक वाजपेयी जिस प्रकार प्रेम की आत्मिक अनुभूतियों में घिरे रहते हैं, वैसे ही मृत्यु जैसा भाव भी इस प्रेम से गहरे तक संपृक्त रहता है । कविताओं में यदि जीवन की सुखानुभूति है तो मृत्यु का दारुण पक्ष भी पूरी निष्ठा के साथ उकेरा गया है । जिस तरह कवि प्रेम में, घर में बार-बार लौटता है, ठीक वैसे ही वह मृत्यु के दायरे में भी घूम-फिर कर आता है । जीवन से जहां कवि को आसक्ति है, वहीं मृत्यु से उसे मोह है । सबसे बड़ी बात तो यह कि मृत्यु जैसा भाव इन कविताओं में किसी प्रकार के भय का सृजन नहीं करता है और न ही किसी अपशकुन रूप में प्रकट होता है । वह जीवन की एक सामान्य स्थिति बनकर यहां प्रकट होता है, जैसे प्रेम अकारण

नहीं है कि काल का आना कवि को प्रेमिका के आने सा प्रतीत होता है -

वह आएगी
जैसे आती है धूप
जैसे बरसता है मेघ
जैसे खिलखिलाती है
सपने में एक नन्हीं बच्ची
जैसे अंधेरे में भयातुर होता है
खाली घर ।[35]

अशोक अपनी कविताओं में बार-बार यह कहने का प्रयास करते हैं कि मृत्यु एक सीधी-साधी जीवन-प्रक्रिया है, उसके लिए भय क्यों ? दुःख क्यों ? विलाप क्यों ? मृत्यु को भी एक उत्सव के रूप में प्रस्तुत करना एक विशेषता है इन कविताओं की। वह जीवन का एक सच है, सार्थक सच् । प्रेम में जीवन भी है और मृत्यु भी - यदि मनुष्यप्रेम से नहीं भाग सका तो मृत्यु से कैसे भागेगा? इससे बच कर भागने की जगह इससे आत्मीयता के स्तर पर आत्म-साक्षात्कार ही प्रेम को पूर्णता प्रदान करता है । यहां फिर यह कहना होगा कि प्रेम की ही तरह उत्सुकता से मृत्यु की प्रतीक्षा पलायनवाद नहीं है, न ही अपनी नैतिक जिम्मेदारियों से बचकर निकलने की कवि की कोशिश है, बल्कि मृत्यु के बहाने स्वयं द्वारा सृजित दुनिया में एक क्षण का विश्राम पाने का कवि का जिद्द भरा प्रयास है।

मृत्यु के साथ कवि का यह आत्मिक संवाद जीवन के चौकोर खानों को साधने की कोशिश तो है, पर इसके अपने कुछ खतरे भी हैं, जैसे कि मृत्यु और जीवन के अबूझ रहस्यों को कविता के भीतर समेटे अशोक अक्सर रहस्यात्मकता के द्वार पर दस्तक देते प्रतीत होते हैं, परन्तु इस रहस्यात्मकता के आरोप को स्वीकार करते हुए कवि इनसे मुठभेड़ का साहस दिखाते हुए नजर भी आता है -

'प्रेम, आसक्ति एवं मृत्यु से मेरी कविता का उलझाव शुरू से ही रहा है - क्योंकि मैं संसार के होने व जीने के, प्रेम एवं मृत्यु के रहस्य पर भरोसा करता हूं और इस रहस्यात्मकता को कविता में सहेजना चाहता हूं, अत: मुझे रहस्यवादी समझे जाने से कोई खतरा नहीं है ।'[36]

जैसे जाने के पहले शाम की आखिरी धूप
जैसे दु:खी मन पर प्रार्थना की छाया
जैसे सूखते वृक्ष को
एक हरा गान सुनाती चिड़िया
तुम आना
जो भी बचा हो उसे अपनी गठरी में समेट कर
अन्त की ओर जाने के लिए ।[37]

मृत्यु के साथ-साथ शरीर एवं आत्मा के अनन्य सम्बन्ध की गहरी छान-बीन करते हुए अशोक आत्मा, देह एवं प्रेम को एक निश्चित समीकरण में बांधते हैं और यह स्पष्ट कहते हैं कि देह एवं आत्मा दोनों ही प्रेम से आद्यान्त जुड़ते हैं । यदि प्रेम है तो देह होगी और यदि देह होगी तो आत्मा भी होगी। देह से प्रेम का अर्थ कवि के यहां आत्मा से प्रेम है । क्योंकि देह नश्वर है और आत्मा अमर है और कवि प्रेम को भी अमर होते देखना चाहता है ताकि देह रहे न रहे, प्रेम का स्पर्श बचा रहना चाहिए -

जब तुम साधे हो उसके शरीर को
तब तक उसकी आत्मा भी तुमसे अटूट है
आत्मा शरीर का अनंत स्वप्न देखती है ।[38]

इन कविताओं में 'मृत्यु का एक तथ्य के रूप में सहज स्वीकार भी है, लेकिन अन्तत: जीवन के उससे बड़े होने की कोशिश भी' ।[39]

मृत्यु के साथ सीधा संवाद करने की प्रक्रिया और उसमें से भी बहुत सफाई से जीवन को निरपेक्ष रख देने की कला कवि को प्रेम की आवश्यकता

के प्रति संभावना का कवि घोषित करती है । प्रेम, मृत्यु, जीवन का यह रहस्यवाद ही इन कविताओं को समकालीन हिन्दी कविता के अन्य समकालीन कवियों से अलग खड़ा करती है । ज्योतिष जोशी लिखते हैं - कि 'शोक में भी तोष लेने और देने की यह उदात्तता हिन्दी कविता में पहली बार दिखाई पड़ती है, जहां कवि दुःख से कातर होकर व्यग्रता में विह्वल नहीं है, वरन् नाना प्रकार के तर्कों से वह स्वयं को संतुष्ट करता है । धैर्य बंधाता है और एक तरह से मृत्यु के आतंक को भेदता हुआ उसे अनावृत्त करता है ।[40] डा० परमानंद श्रीवास्तव लिखते हैं कि अशोक के यहां मृत्यु का सामना भी है और मृत्यु का प्रत्याख्यान भी ।[41]

रहस्यवादी होने के खतरे झेलते अशोक की कविताएं निजी अनुभूति के स्तर पर अपना आत्मसंघर्ष प्रस्तुत करती हैं । यह जीवन संघर्ष जीवन की रागात्मकता के आधार पर जहां आता है, वहीं दूसरी ओर मृत्यु से भी वैसे ही आद्यांत रूप से जुड़ा होता है । जिस तरह से इन कविताओं में जीवन को, प्रेम को अपने आप में खोलने की कोशिश और उसे एक उत्सव का रूप देने का कवि प्रयास है, वैसे ही मृत्यु भी अपने रहस्यों के साथ खुलती है और उत्सव रचती है । वह अपनी कविताओं में जैसे दैहिक प्रेम का उत्सव रचते रहते हैं, वैसे ही मृत्यु का भी । प्रफुल्लता और हर्ष दोनों में ही है । अपनी इसी विशिष्ट उत्सवधर्मिता के कारण अशोक रोमानी भावुकता के कवि होने के खतरे से बच जाते हैं और संपूर्ण ऐन्द्रिय प्रेम के कवि होकर उभरते हैं । इस प्रकार विशिष्ट प्रेम से जीवन का सामना करने और प्रेम को उसके सोह में सुरक्षित रखने की जिम्मेदारी से कविता को संपूर्णता देते हैं । अकारण नहीं है कि इन कविताओं में जहां नश्वरता का आभास है, वहीं जीवन के उल्लास का अहसास भी और विशेष यह कि यह सब कुछ बिलकुल साधारण ढंग से होता जाता है । सुषमा भटनागर कहती हैं - 'आसक्ति और रति के सत्य से ले कर नश्वरता एवं अनुपस्थिति के सच तक निपट साधारणता में सामना करने की चेष्टा कविताओं में है'।[42]

वास्तव में अशोक वाजपेयी अपनी कविताओं में प्रेम से मृत्यु तक की यात्रा करते रहते हैं । अर्थात् सृजन से नश्वरता एवं स्थिरता की ओर । कविताओं में प्रस्तुत मानवीय स्थितियां संवेदनात्मक स्तर पर एक विशाल सृजन आकांक्षा से परिपूरित दिखाई देती हैं । वस्तुत: प्रेम के चरम क्षणों में पूरा जीवन अपनी समग्रता में अर्जित होता है और उसकी अनुगूंजें धीमी न पड़ जायें, शायद इसीलिए कवि वहीं स्थिर भी हो जाता है । अशोक वाजपेयी की कविता में मृत्यु जब उपस्थित होती है तो ऐसा नहीं लगता कि वह किसी त्रासद अंधेरे को प्रकट कर रहे हों, अतएव यह मृत्यु की चेष्टा गतिशील भोग के बाद अर्जित किया हुआ विश्राम है, जिसमें थकान तो है, परन्तु खरोचें नहीं । अशोक की कविताएं प्रेम एवं मृत्यु के आख्यान की जुगलबंदी प्रस्तुत करती हैं ।

रोलां बार्थ एक इंटरव्यू में कहते हैं कि 'प्रेम में आकांक्षा होती है, लेकिन यह आकांक्षा व्यापक यौनेच्छा में होती है, व्यापक ऐन्द्रिकता में ।[43] अशोक वाजपेयी की कविताओं में यह आकांक्षा कुछ दूसरे रूप में आती है । वह ऐन्द्रिकता के पहले ही स्पर्श से कोमल किसलय की तरह खुलती है और संवेदनाओं के महीन तंतुओं के सहारे एक आंतरिक लयवत्ता (रिद्म) की सृष्टि करती है । आकांक्षा एवं कामना में ही सृजन के बीज छिपे होते हैं । कविता में जब यह आकांक्षा व्यक्त होती है, तो वह एक साथ कई-कई खतरे उठाती है । ऐसी कविताओं का अपने व्यक्तिगत रागात्मकता में समाविष्ट हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है । यह अकारण भी नहीं है कि अशोक वाजपेयी की कविताएं कभी-कभी इस तरह की तात्कालिकता में ही सिमट कर रह जाती हैं । अशोक का कवि खतरे और जोखिम उठाने से बचता रहता है । इसलिए कविताओं में कवि गैप्स (अंतराल) की महत्वपूर्ण आवश्यकता को लगभग उपेक्षित करता है । वहां प्रेम के कराल पंथ पर चलते हुए तलवार की धार के नुकीलेपन को महसूस करने की छटपटाहट एवं व्यग्रता नहीं दिखती, बल्कि एक गहरी तृप्ति की छाया सदैव इन कविताओं के पार्श्व में बैठी रहती है । इससे यह भान होता

है कि यह मानवीय संवेदनाओं के जंजाल में बेतरतीब उग आने वाली अनुभूति नहीं है, बल्कि वह पार्क के सलीकेदार घास पर नागर संवेदना से उगी सलोनी एवं आकर्षक उजास है -

वह ओठों पर चमक रही थी / जैसे क्षार हो
वह निम्नाभि थी
अपने उद्दाम अतिरेक में कसमसाती हुई
वह श्याम झाड़ी में छुपा / आर्द्र कुसुम थी
अपने अंधेरे अंतरिक्ष में
सुख के उज्ज्वल आलोक की प्रतीक्षा में ।[44]

अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद अशोक की कविताएं इस दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं कि वहां जीवन की विशाल अनुभूतियों और सांसारिक गति-विधियों को एक किनारे रख कर सिर्फ प्रेम का स्पंदन एवं प्रेम की गरमाहट को महसूस करने की असीमित इच्छा और विश्वास है और यही इच्छा उनमें प्रेम की गरमाहट को बचा कर अपने बाद भी सुरक्षित रख सकने का अदम्य उत्साह भरती हैं - `हम नहीं बचेंगे पर बचा रहेगा पती-पती खिलता-झरता प्रेम` । अरविन्द त्रिपाठी का यह कहना उचित लगता है कि `कवि की यह रोमेंटिक मुद्रा बहुत हद तक खतरा उठा कर अन्ततः प्रेम को समाज एवं कविता दोनों में ही सुरक्षित देखना चाहती है, जबकि आज समाज और साहित्य में प्रेम को लेकर सेन्सर के साथ-साथ कर्फ्यू जैसी स्थिति भी दिखाई देती है ।[45]

ऐन्द्रिकता एवं मांसलता में रची-बसी ये प्रेम कविताएं अपने समय के साथ सार्थक संवाद निर्मित करने की दिशा में मजबूती से पहल करती हैं । यही संवाद जीवन की बहुवर्णीय छवियों का भी खुलासा करता है । इन कविताओं की संवेदना सिर्फ इस बात पर निर्भर नहीं करती है कि उसमें देह है, रति है, तृप्ति है, बल्कि इस बात पर भी उसका निर्धारण होता है कि उस रति, उस देह का स्वरूप क्या है ? इस प्रेम की मांसलता, ऐन्द्रियता कहां तक जाकर प्रेम सम्बन्धों के निरूपण का कार्य करती है । अशोक की कविताएं

इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि वहां प्रेम और रति जीवन के एक समग्र अनुभव के रूप में खुलते रहते हैं और मानवीय बोध की अंतरंगता के ताजे स्पर्श से उस जीवन एवं प्रेम को छूते हैं ।डा० मैनेजर पाण्डेय ने एक जगह लिखा है कि `प्रेम में शरीर एवं आत्मा का संयोग होता है` ।[46] अशोक की कविताएँइसी शरीर एवं आत्मा की व्यंजकता को प्रदर्शित करती हैं और प्रेम की कामना में रत होने का प्रयास करती हैं । प्रेम की कामना में निर्लिप्त होते जाने की संवेदना अचानक ही उदित नहीं होती, उसके पीछे एक दृष्टि है, व्यापक दृष्टि । वही दृष्टि, जो जीवनानुभवों से छन कर आती है और निजत्व की अनुभूति को विशिष्ट गहराई और गरमाहट प्रदान करती है । देह का उत्सव अभिजात्यता के आलोक में भव्यता से मनाया जाता है, परन्तु दैहिक मांसलता का यह उत्सव अपनी रागात्मकता से पूरी सृष्टि को अपने भीतर समो लेने की आकांक्षा भी रखता है । अतएव प्रेम और देह का यह संबंध सिर्फ सपाटबयानी या यथार्थ का स्थूल सरलीकरण नहीं रह पाता है, बल्कि वह बहुत आगे जा कर एक बड़े जीवनलोक की सृष्टि करता है -

उसकी बाहें घेरती हैं
प्रेम को
प्रिय को
आकाश और समय को
उसकी बाहें बुलाती हैं
रंग, आकार, बसन्त और धूप को
शिशिर में ठिठुरती गरमाहट की इच्छा को ।[47]

महेश आलोक का कहना ठीक है कि `अशोक प्रेम की मांसलता केवल कविता में चरितार्थ नहीं करते, बल्कि उस प्रेम को संपूर्ण सृष्टि की केन्द्रीय धुरी के रूप में उभारते हुए, मनुष्य की मूल प्रवृत्ति के रूप में उद्घाटित करते हैं`। उनके यहां जहां प्रेम के रागात्मक चरित्र की तीव्र ऐन्द्रिय संवेदना है, वहीं उस संवेदना के ध्वनिकंप की अद्वितीय अनुभूति भी ।[48]

प्रेम की इसी संवेदना के संरक्षण के लिए इस नश्वर जगत के बरअक्स एक अन्य जगत की खोज का प्रयास इन कविताओं में मिलता है । यह चाहत कोई सामान्य चाहत नहीं है । उसमें कोमलता एवं स्निग्धता के साथ-साथ एक विशेष प्रकार की जिद्द एवं आक्रामकता है । यह आक्रामकता प्रेम के लिए समूचे विशाल जीवन का कोई अंश या पूरी पृथ्वी का एक अलग टुकड़ा प्रेम के लिए उपलब्ध न हो पाने की निराशा से उपजता है । परन्तु आश्चर्यजनक रूप से इस निराशा की कोई खास ध्वनि इस काव्य में नहीं उत्पन्न होती है, जिसका कारण यही है कि अशोक इसको अतिक्रमित कर उस जीवन की तलाश में जुटे रहते हैं, जो इस मूर्त जीवन के पीछे अमूर्त रूप में उपस्थित रहता है । कृष्णचन्द्र लाल कहते हैं -'भावनाशील यथार्थ को स्थापित करने की चेष्टा के कारण ही अशोक वाजपेयी कभी हताश, या उदास नहीं होते हैं, बल्कि जीवन के पार एक और जीवन का आलोक देखने का यत्न करते हैं'-[49]

उससे भीगूं बारिश की तरह
ओस की तरह
नदी के अटूट जल की तरह
उसे लपेट लूं हवा की तरह
फूलों की हंसी की तरह
फैला दूं उसे पृथ्वी की तरह आकाश के आर-पार ।[50]

प्रेम जीवन का सत्य है । वह जीवन को अर्थवान बनाता है और मानवीय सरोकारों की रागात्मकता से उसे प्रफुल्लित करता है । ऐसा जीवन जो अपने निजत्व एवं एकांत में ही स्थायी रहे और अपनी सूक्ष्म अर्थवत्ता से प्रेम के स्थायीत्व को जड़ न बना कर सक्रिय एवं गतिशील बनने में मदद करे । अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताएं अपनी इसी जटिलता एवं सूक्ष्मता में प्रेम को बचाए रखने का प्रयास करती हुई अपने निजत्व को अपने एकांत के क्षणों का साक्षी बनाती हैं । कवि की जिजीविषा प्रेम को उसके वास्तविक रूप में बचाए रखने का प्रयास करती है एवं वासना की जड़ों से हटा कर पवित्रता के आलोक तक पहुंचाते

हुए उसे सिर्फ और सिर्फ भोग आख्यान तक पहुंचने से बचाती है । अशोक की कविता की यह जरूरी पहचान है । यही कारण है कि सुनने में ये कविताएं जितनी सहज एवं पारदर्शी प्रतीत होती हैं, अपनी अर्थवत्ता में उतनी ही जटिल एवं अपारदर्शी । महत्वपूर्ण बात यह कि कविताओं के शब्द आसपास से नहीं कविता में प्रविष्ट होते हैं, बल्कि शताब्दियों दूर से यात्रा करते हुए नजर आते हैं अपनी गंभीरता में अपनी सहजता को लगभग अपारदर्शी रखते हुए । परम्परा से गहरे स्तर पर नि:सृत कविताएं अपने वर्तमान एवं भविष्य से भी उसी तरह आद्यांत जुड़ी नजर आती हैं । किसी कला की प्राणविधायनी शक्ति उस की परम्परा ही होती है । कहा जाता है कि सृजन के बीज परम्परा में ही छिपे होते हैं । यह अलग बात है कि वह परम्परा अपने भीतर किन-किन स्थितियों से समावेशित एवं एकाकार होती है और किस तरह से प्राचीनता का पुनर्संस्कार करती हुयी उसे नवीनता के अधुनातन परिवेश से जोड़ती है । अशोक की कविताएं इस परम्परा को अपने भीतर बचाए रखने का संकल्प तो रखती ही हैं, साथ ही साथ उसे पुनर्संस्कारित कर अपने परिवेश से टकराने का साहस भी दिखाती हैं । यह दीगर बात है कि इस साहस की कभी कभी अधिकता हो जाती है और इसी कारण अक्सर ये अपनी सहजता एवं लयवत्ता दूर छोड़ आती हैं । यही वजह है कि ये कविताएं कभी रीतिकालीन युग की प्रेम संवेदना के बरअक्स खड़ी हो जाती हैं और कभी उत्तर छायावादी स्थूल मांसलता के रंग में रंगने लगती हैं । परन्तु कवि का कौशल जहां सजग होता है, वहीं कविता को उस खेमे में जाने से बचा कर अपनी संवेदना के मुताबिक नए भाव बोध देने में तत्पर होता है । परम्परा के प्रति घोर आसक्ति ही कविताओं को एक व्यापक बहुरंगीय कैनवास देता है और यही कारण है कि तृप्ति और भोग का नया सौन्दर्यशास्त्र रचती ये कविताएं अपनी संरचना में संस्करित एवं वैभवशाली प्रतीत होती हैं ।

रतिश्लथ वह उसे देखती है
अपने नेत्रों भर से नहीं
अपनी पूरी देह से

स्तनपुरस्कृत वह उसे छूता है
अपने हाथों भर से नहीं
अपनी समूची अस्ति से ।[51]

इन कविताओं में काम है, भोग है, केलि है, प्रकृति है तथा आत्मा, कामना और इच्छा भी, यानि प्रेम की संपूर्ण बाह्य एवं आंतरिक स्थितियां अपनी विराटता में यहां दीप्त होती हैं । अपनी तीव्र ऐन्द्रिय संवेदना में गठित प्रेम के ये विभिन्न रूप प्रेम को उस ऊंचाई पर ले जाते हैं, जहां से इस नश्वर जगत की विषमताएं साफ-साफ दृष्टिगत होती हैं । प्रेम को उस की वास्तविक जगह प्रदान करने का कार्य ये कविताएं पूरी मुस्तैदी और जिम्मेदारी के साथ करती हैं । प्रेम को अपनी खोह में बचाए रखने और उसे मानवीय संस्कारों का एक अनित्य गुण मानकर उसकी प्रतिष्ठा कविता में करने का संकल्प संभाले अशोक एक जरूरी लड़ाई में अकेले संलग्न रहते हैं ताकि प्रेम बचा रहे ।

प्रतीक्षा एवं कामना में तेजस्वित अशोक के यहां शमशेर की ही तरह प्रेम के कंपन की अद्वितीय अनुभूति है ।

एक ठोस बदन अष्टधातु का
सचमुच ?
जंघाएं दो ठोस दरिया ठैरे हुए ।[52]

डा० नामवर सिंह शमशेर को इन्हीं कविताओं के द्वारा सघन ऐन्द्रियता का कवि ठहराते हैं ।[53] अशोक के यहां भी ऐसी सघन ऐन्द्रियता के दर्शन अनायास हो जाते हैं, अंतर सिर्फ यही है कि अशोक के यहां खुलेपन का अतिरिक्त आग्रह है । शमशेर की तरह वे धुर रोमानी संस्कारों के कवि नहीं हैं ।यहाँ प्रेम के सारे कायिक सोपान पूर्ण राग बोध के साथ देह की संवेदना को स्पर्श करते हैं --

ढंक नहीं सकी
दिगम्बरता
स्वेद से
नख-शिख चुंबन से
केलि से
जैसे-तैसे ढंकी वह
उसकी ही लज्जा से
उसकी ही प्रफुल्ल कामना से ।[54]

अंत में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि हिन्दी कविता कर्म का समकालीन परिदृश्य जहां प्रेम एवं शृंगार के सौन्दर्य मूल्यों से च्युत मानवीय बोध की एक जरूरी संवेदना की उपेक्षा कर रहा था, वहीं अशोक की कविताएं इसी कठिन समय में प्रेम की जिम्मेदारी उठाती हैं एवं प्रेम की सघनता, उत्कटता तथा गरमाहट को लातार कविता के केन्द्र में बनाए रखती हैं और आश्चर्यजनक रूप से इस पूरे प्रयास में कविता कहीं से भी फरित नहीं हो पाती हैं, इसका एक कारण यह भी है कि परम्परा की जड़ों को लगभग नकार चुकी कविता को पुन: परम्परा से जोड़ देना है ।

प्रेम के समस्त अनुभव जहां प्रेम की विकट महिमा का वर्णन करते हैं, वही अपनी सार्थक सोद्देश्यता के साथ मानवीय बोध की गरमाहट में भी जीवित रहते हैं । हिन्दी प्रेम कविता के ऐसे कवि हैं जहां प्रेम रोमानियत की संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रमण कर दैहिक अनुभूतियों में निमग्न होता हुआ अपनी सार्थकता सुरक्षित रखता है ।

(ख) प्रेम की परिकल्पना

अशोक वाजपेयी की प्रेम-कविताओं में प्रेम के विविध रूप कवि की सर्जनात्मक कल्पना से अनुप्राणित होकर अभिव्यक्त हुए हैं । प्रमुखत: प्रेम के तीन रूप इन कविताओं में प्रस्तुत हुए हैं - (1) मानवीय प्रेम, (2) ईश्वर विहीन आध्यात्मिक प्रेम, (3) भोगवादी प्रेम ।

मानवीय प्रेम जीवन के अस्तित्व से आद्यान्त जुड़ा होता है और उसी के स्पन्दन में धड़कता रहता है । ईश्वरविहीन आध्यात्मिक प्रेम रहस्यवाद के अंतर्गत आता है और वह रहस्यवाद चूंकि ईश्वरविहीन होता है, अत: प्रेम की अनुभूति इसमें शुद्ध आत्मिक स्तर पर होती है । भोगवादी प्रेम में प्रेम अपनी नैतिक मानदंडों को लगभग अतिक्रमित करता हुआ भोग की दशा में उन्मुख होता है एवं कभी-कभी तो प्रेम भोग में स्थान्तरित हो जाता है । प्रेम की यह अंतिम अवस्था होती है, जो आनंद के विधान में ही संप्रेषित होती है । वास्तव में साहित्य के संदर्भ में भोग एवं प्रेम इतर अनुभूतियां मानी गयी हैं । ईवो फिशर कहता है - `कि यौन एवं प्रेम दोनों ही अलग अनुभूतियां हैं, यौन-उद्रेग जहां जीव रसायन एवं शारीरिक क्रिया के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न होता है, वही प्रेम का स्फुटन भावनाओं के मनोविज्ञान के अंतर्गत होता है ।[55] इसी को प्रो० मैनेजर पाण्डेय व्यवहारिक वस्तुगत परिप्रेक्ष्य में देखते हैं - प्रेम नि:स्वार्थ होता है, काम में स्वार्थ प्रबल होता है, प्रेम का प्रतिफल आत्मानंद में होता है, जबकि काम का लक्ष्य इंद्रिय सुख तक ही सीमित होता है ।[56] इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि काम की एक महत्वपूर्ण भूमिका जीवन में होती है और प्रेम की भी । परन्तु कभी-कभी काम प्रेम से अधिक आवश्यक होता है, जीवन के सुरुचिपूर्ण तादात्म्य के लिए । अशोक वाजपेयी की कविताएं एक अर्थ में कहें तो भोग की नहीं, रति के विधान की कविताएं हैं । भोग वस्तुत: रति का स्थूल अर्थ है । रति में जहां मानव स्थितियों एवं स्त्री-पुरुष के सूक्ष्म संबंधों की समग्रता होती है, वहीं भोग में सिर्फ वासना का पंक एवं

पर्यंक होता है । अशोक की कविताएं जीवन के वैयक्तिक संबंधों की इत्यता पर विश्वास करती है और प्रेम के रास्ते इसी इत्यतता तक पहुंचने का प्रयास करती है ।

इन कविताओं में रति की प्रधानता तो है ही, रति के विभिन्न रूप अपनी संपूर्ण अर्थछवियों के साथ प्रस्तुत भी हुए हैं । वास्तव में, रति मानवीय संबंधों की महत्ता को रेखांकित करते हुए उसे जीवन के सुखद क्रोड़ तक ले जाने में माध्यम का कार्य करती है । मैनेजर पाण्डेय रति के इसी संदर्भ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं -'रति सभी मानवीय संबंधों का आधार है और इसकी गति एकात्म, रागात्मक संयोग की अभिव्यक्ति रति में होती है । नर-नारी का मनोदैहिक प्रेमयोग मानव समाज का अति प्राचीन तथा नित्य नवीन सत्य है । यह प्रेम योग मानव मन की सौन्दर्य भावना, अनुभूति एवं बोध का केन्द्र-बिंदु रहा है ।'[57] अशोक वाजपेयी की कविताएं इसीलिए निरे भोग की स्थूल कविताएं नहीं हैं, बल्कि वे रति के अनुभवों पर जीवन को प्रतिष्ठित करने वाली कविताएं हैं । भोग एवं वासना से बचते हुए जिस प्रकार रति और प्रेम के आग्रह को जीवन में स्थापित करने की कल्पना अशोक करते हैं, वही उनको प्रेम के एक ऐन्द्रिक कवि के रूप में प्रस्तुत करता है ।

अशोक वाजपेयी एक कल्पनाधर्मी कवि हैं । कल्पना के विभिन्न रूपों का सामंजस्य इन कविताओं में अक्सर देखने को मिल जाता है । कभी-कभी देखकर यह हैरत होती है कि कवि कल्पना के ऐसे-ऐसे औजार कैसे गढ़ लेता है, जो कविता को गतिमान तो बनाते ही हैं, उसमें निहित सौंदर्य बोध को भी सक्रिय कर देते हैं । स्त्री के दैहिक सौन्दर्यों के विभिन्न प्रतिरूपों की कल्पना इनमें प्रस्तुत होकर प्रेम का एक संपूर्ण जगत ही रच देती है । यह सौन्दर्य बोध कभी प्रकृति की समग्रता से निःसृत होकर आता है तो कभी अपनी पृथक् सत्ता का निर्माण करते हुए और कभी कभी शब्द के बरअक्स । सौन्दर्य को अपनी स्थितियों में, अपने स्तर पर ये कविताएं टटोलती हैं, उसमें प्रवेश करती हैं, उसका आख्यान रचती हैं । मदन सोनी का कहना है - ये कविताएं सौन्दर्य

को अपनी `सतह` पर, शुद्ध शाब्दिक स्तर पर भी पाने में उद्यमशील हैं, इस दृष्टि से वे अक्सर अपने विन्यास में एक चित्रात्मक फलक के समतुल्य हैं, जिस में एक कलाकृति अपने को प्रतिभासिक्त सतह पर ही उजागर करती है ।[58]

मूलत: सौन्दर्य बोध ऐन्द्रियता (सेंसुअसनेस) का विज्ञान है । इसका लक्ष्य भी स्वतंत्रता तथा सुख भोग है ।[59] इस सुखबोध अथवा आनन्दातिरेक से जो अनुभव प्राप्त होता है, वह अनुभव आध्यात्मिक है। यह अनुभव ऐसा है जिसमें आत्मा विलसित रहती है और उसमें कोई अभाव नहीं होता है । आनंद सौन्दर्य का चरम मूल्य है । सौन्दर्य का आनन्द या चाहे तो इसे इस अर्थ में भी कहा जा सकता है कि इन कविताओं में सुख के विधान के लिए ही रति एवं प्रेम की व्यंजना होती है । इन कविताओं का एकमात्र आधार जीवन में, मानव संबंधों में सुख की उपस्थिति ही है । हिन्दी कविता के परिदृश्य में नारी-सौन्दर्य प्रेम का एक महत्वपूर्ण आलंबन बन कर आया है । रीतिकालीन कवि-पुंगव तो सौन्दर्य की आड़ में नारी-अंगों की नाप-तौल में ही अपने काव्य की महत्ता सिद्ध करते रहे, परन्तु छायावाद में पहली बार सौन्दर्य की सूक्ष्म अनुभूति कविता के धरातल पर प्रतिष्ठित हुई । कामायनी में तो नारी सौन्दर्य की अनुपम छवि प्रस्तुत हुई -

उज्जवल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं ।[60]

प्रसाद की कविता से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य अनेक अभिलाषाओं का प्रेरणा स्रोत होता है और वह अभिलाषायें नित्य नवीन होती रहती हैं ।

अशोक वाजपेयी की कविता में स्त्री देह का जो सौन्दर्य है, वह सतह पर नहीं जाकर उसे देखती है, बल्कि बहुत सचेतन होकर, गहराई में जाकर उसकी खोज-बीन करती है, इसलिए वह विराट रूप में प्रस्तुत होती है और

सदैव अपार्थिव रहती है । इस सौन्दर्य के विधान को श्रोता या पाठक बहुत नजदीक जाकर महसूस करता है, परन्तु किसी प्रकार की वासनात्मक उत्तेजना का सृजन ये कविताएं नहीं करती हैं । सौन्दर्य मूलत: अपार्थिव ही होता है, रूप एवं आलोक उसके मूल तत्व हैं । संत आगस्टीन ने सौन्दर्य को रंग के आकर्षण से युक्त अंगों का समानुपात कहा है ।[61] प्रेम सौन्दर्य के बगैर संभव नहीं है । वास्तव में प्रेम में जिन कोमल मनोवृत्तियों का स्फुटन होता है, उसके आधार में सौन्दर्य ही निहित होता है । वस्तुत: सौन्दर्य प्रेम की आत्मा है, उसी पर प्रेम की सत्ता संभव है । अशोक वाजपेयी के यहां का प्रेम इसी सौन्दर्य पर आधारित प्रेम है । अंतर सिर्फ यही है कि सौन्दर्य पर आश्रित होने के बावजूद भी वहां रोमान के लिए बहुत अधिक अवसर नहीं है और न ही वह प्रेम `प्लूटोनिक लव` (वितलीय प्रेम) की सीमा में आता है । इन कविताओं में किसी को चाहना है और शुद्ध आनंद केलिए चाहना है और कहना न होगा यह शुद्ध आनंद रति के माध्यम से ही तृप्ति में परिणत होता है ।

मूलत: प्रेम के दो रूप माने गए हैं - (1) वासनात्मक प्रेम, (2) सात्विक प्रेम । आचार्यों की मान्यता के अनुसार वासनामूलक प्रेम का आधार शारीरिक एवं स्थूल(स्थिर) होता है ।[62] आलम्बन (नायिका) को चूमना, स्पर्श करना, आलिंगन करना आदि दैहिक क्रियायें वासनामूलकप्रेम की ही अभिव्यक्तियां हैं । इसमें प्रेमी अपनी तुष्टि के लिए सुंदर वस्तु का उपयोग करता है । सात्विक प्रेम का उदय तब होता है जब इंद्रिय तृप्ति के आधारभूत तत्वों रूप, गंध, स्पर्श आदि से उठ कर प्रेम-पात्र का अतीन्द्रिय आंतरिक सौन्दर्य एक सूक्ष्म भावात्मक सत्ता मात्र रह जाता है ।[63] स्पष्ट है कि सात्विक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम भी कह सकते हैं और इसमें नैतिक आडम्बरों का ही प्राधान्य अधिक है । अशोक वाजपेयी की कविता समग्र अर्थों में पहले प्रकार के प्रेम की आधारभूमि पर टिकी है । परन्तु यहां थोड़े सरलीकरण से बचते हुए यह जोड़ना आवश्यक है कि इन कविताओं के भोग एवं तृप्ति के कलात्मक संयोगों के बावजूद मानवीय संवेदना के जिन कोमल भावों को ये स्पर्श करती है, वहीं इन कविताओं को निरे भोग की कविता के आसन्न खतरे से बचा लेती है । इसका एक कारण

लाक्षणिक एवं वैदग्ध्य भाषा भी है --

और जब तृप्त होते हैं
किसी आत्मीय आकाश में दीप्त होकर हमारे चेहरे
तो तुम्हारी बांह एक खुलता-खुलता पथ है
और मेरा हृदय उस पर झपकता हुआ एक नीला तारा
जो धीरे-धीरे गाता है ।[64]

अशोक वाजपेयी इन कविताओं में प्रेम के जतन के वे सारे प्रयास करते हैं, जो प्रेम को प्रेम ही रहने दे। यही कारण है कि कविता की तथाकथित वर्जित सीमायें लांघने के बाद भी उन्हें कामी कवि की भूमिका में ये कविताएं नहीं जड़ करती हैं, बल्कि काम की सघन ऐन्द्रियता के प्रति उसे उन्मुख करती हैं । वास्तव में इन कविताओं में कवि प्रेम एवं रति की सूक्ष्म एवं सारगर्भित अभिव्यंजना करता है --

रात / उसे खोलेगी आकाश की तरह अनंत
धरती की तरह उत्सुक
रात / जो बनेगी
उस पर झुका दिगम्बर पुरुष ।[65]

अपने मूर्त विधान को अमूर्तता में प्रस्तुत करती ये कविताएं निरन्तर एक सुख की तलाश में सक्रिय ही रहती हैं । कवि सुख एवं रति के विभिन्न दृश्यों में खुल कर सामने आता है और प्रेम को भी प्रफुल्लता के वैभव से भी भरता है और वह सुख यूं ही नहीं चला आता, कवि उसके लिए लंबे-लंबे उपमान एवं उपमायें गढ़ता है । सुधीश पचौरी का कहना है कि कवि एक अनंत सुख की तलाश में सक्रिय रहता है, वह उस सुख को नारी-देह में, उसके शृंगार में तलाशता है और उन्हें उपमानों एवं रूपकों द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करता है ।[66]

सुख उसके कुचों के बीच हल्की हरकत सा
सुख मुद्रित उसके चुंबन की तरह आकाश में

सुख कुसुमित उसकी झाड़ी में
सुख उसके कुचवृंत पर कुसुमित ।[67]

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि कवि का सुख रति में तृप्त होने का भी सुख है ।

समकालीन कविता में प्रेम की जो स्थितियां हैं, उनमें रोमानीपने के ही अवसर अधिक हैं , परन्तु कुछ अन्य कवि जो देह की वीथियों में प्रेम के सहारे उन्मुक्त होकर भटकते हैं, वहां भी काम जीवन-सुख के रूप में नहीं, दमित यौनेच्छा के रूप में प्रस्तुत हुआ है । वहां कुंठा है और उससे उपजा अवसाद है । अशोक की कविताएं इस दृष्टि से अलग हैं । दैहिक-सुख की ये कविताएं अपने पाठ में दमित यौनेच्छा को लगभग तिरस्कृत करती हुई 'मुक्त लिबिडो' की स्थापना करती हैं और इसी सुख के द्वारा करती हैं । सुधीश पचौरी अपने उसी लेख में लिखते हैं - कि अशोक की विशेषता यह है कि वह प्रेम को दमित यौनेच्छा नहीं रहने देते, बल्कि मुक्त लिबिडो की स्थापना करते हैं ।[68]

यौन इच्छाओं को जीवनासक्ति के रूप में खुलकर प्रकट करती और इस 'खुलेपन' से रोमानियत की गलदश्रु भावुकता को चुनौती देती ये कविताएं समकालीन हिन्दी कविता में एक अलग प्रेम के द्वार खोलती हैं । ऐसा प्रेम जो देह के ही अवयवों मेंउपजता है और उसी में विस्तार पाता है । ये कविताएं इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि ये परम्परा से ग्राह्य प्रेम के सामने एक चुनौती भरा भाव रखती हैं । ये सदैव प्रेम की नैतिकतावादी दृष्टि से टकराने का साहस करती हैं । डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं कि 'देह के प्रति विकृत विरक्ति और रति के प्रति अश्लील कुंठा को काव्य मूल्य मानने वाले इस विचित्र समय में भावना और देह, प्रेम और संभोग, सौन्दर्य और रति के अंतरावलम्बन करती अशोक वाजपेयी की कविता से गुजरना अत्यन्त मार्मिक अनुभव है'।[69]

अशोक की ये कविताएं अपनी परम्परा और संस्कृति के आग्रह को अपने विचलित होते जा रहे समय में भी बचा ले जाने की कविताएं हैं । वास्तव में परम्परा समग्र अर्थों में समावेशी होती है । टी. एस. इलियट परम्परा को साहित्य के लिए आवश्यक मानता है । परम्परा हमारी जड़ों में होती है और कवि न तो परम्परा से कर सकता है और न ही जड़ों से । परम्परा एवं इतिहासबोध से कट कर रचना कर्म न तो संभव है और न ही साहित्य के नए विमर्श का केन्द्र ही स्थापित किया जा सकता है । शंभू नाथ चतुर्वेदी कहते हैं - आधुनिक रचनाकार एक विशिष्ट अर्थों में परम्परावादी होता है । वह परम्परा का आधुनिक परिवेश के संदर्भ में पुनर्निरीक्षण तथा पुनर्मूल्यांकन करता है ।[70] स्टीफन स्पेंडर भी मानता है कि आधुनिक साहित्य-कार के सामने दो ही रास्ते हैं, या तो वह सांस्कृतिक विकास की ओर अग्रसर हो जाये या संस्कृति की नई कला चेतना के संदर्भ में उनकी पुनर्व्याख्या करे ।[71] अशोक वाजपेयी की कविता में परम्परा का आग्रह अपने भरे-पूरे रूप में प्राप्त होता है, पर इसमें दो बातें और जुड़ती हैं । पहली कि ये परम्परा की रूढ़िवादिता को अपने प्रस्फुटन के लिए खतरा मानती है, दूसरी कि परम्परा का प्रवेश आधुनिक परिवेश के अर्थबोधों के गलियारे से होकर गुजरता है । यही कारण है कि इस परम्परा-बोध में समकालीन संवेदनों की आंच एवं लपक एवं अनुभव भी है । यही अनुभव परम्परा के प्रति कवि के सक्रिय लगाव और समय की समग्रता के प्रति उसकी जिज्ञासा के कारण सिर्फ सतही उत्तेजना का अनुभव बनने की बजाय प्रेम एवं संघर्ष के अन्तरावलम्बन का भी अत्यंत आत्मिक अनुभव बन जाता है ।[72]

तुम कहीं नहीं जा सकते
अपनी त्वचा एवं अस्थियों से
अपनी भाषा से
अपने प्रेम से ।[73]

प्रेम अपने मूल रूप में चूंकि ऐन्द्रिय होता है, अत: उसमें कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान होता है । कल्पना के द्वारा ही प्रेम को ऐच्छिक एवं दिव्य धरातल प्रस्तुत किया जाता है । अशोक वाजपेयी जो मूलत: प्रेम एवं रति के कवि माने जाते हैं, उनके संदर्भ में कल्पना-तत्व की भूमिका अधिक आवश्यक हो जाती है जब उन्हें छायावादी अंतरंगता से अनुप्राणित कवि कहा जाता है । यह अलग बात है कि उनकी कविता की प्रणयाभिव्यक्ति छायावादी कविता की तरह तरल एवं उत्तर-छायावादी कविता की तरह उच्छृंखल नहीं है । अशोक की कविताओं में जिस प्रकार का प्रेम आकार पाता है, वह मूलत: आनंदानुभव के लिए ही है तथा उसमें निजत्व की आसक्ति एवं रागात्मकता का ही अधिक प्रन्नयन है । आनन्दानुभव का यह प्रेम जहां केलि, रति और दैहिक सौन्दर्य की ही [illegible] सर्जना में तत्पर होता है, वहीं वह प्रेम का एक नया विमर्श भी उपस्थित करता है ।

प्रेम की व्यापक एवं उद्दाम परिकल्पना के सहारे अद्भुत उपमान और विशेषण गढ़ने की प्रक्रिया इन कविताओं को परी लोक के प्रेमानुभवों का आख्यान बना डालती है । उपमानों की इस आश्चर्यजनक व्यवस्था के फलस्वरूप प्रेमिका का सत्कार (प्रतीकात्मक ही सही) प्रेम को असामान्य दिव्यता प्रदान करता है । यद्यपि इसके कुछ खतरे भी साथ-साथ ही प्रकट होते हैं । सबसे बड़ा तो खतरा यह है कि इस तरह की वायवीयता प्रेम को अपने आधुनिक अर्थ-बोधों से लगभग काटने का प्रयास करती है (आधुनिक अर्थबोध से आशय यह है कि - वर्तमान परिदृश्य मानवीय संवेदनाओं के निरन्तर छीजते रहने का है । इसमें मनुष्य सिर्फ रागात्मक अनुभूतियों की आसक्ति नहीं रख सकता, क्योंकि वह हर क्षण एक नए आत्मसंघर्ष में लीन है । यही कारण है कि ऐसेसमय का प्रेम अपनी कल्पना के साथ ही साथ ठोस जमीनी हकीकत से भी जुड़ा है) और तब प्रेम सिर्फ प्रेम नहीं रह जाता, वह एक अलौकिक दृश्य दर्शन सा प्रतीत होता है । इन कविताओं का सबसे बड़ा संकट भी यही है और सीमा भी ।

तुम आ रहे हो जिस पथ
उस पर मैं आ रहा हूं भाग कर

तुम्हारी अगवानी करने
आकाश से उसके / कुछ नक्षत्र उधार लेकर
पृथ्वी से छीन कर उसकी कुछ पुष्प मालायें
महामौन से बीन कर उसके कुछ शब्द
कुछ धूप, कुछ बादल, कुछ दूब
कुछ फूंस और अक्षत लेकर ।[74]

वास्तव में अशोक की इन कविताओं का स्वरूप आत्मपरक है और ये अनुभूति के प्रारंभ अर्थात् संवेदन बिंदु से अनुभव में तब्दील होती रहती हैं । कविताओं की अभिव्यक्ति इसी नक्काशीपूर्ण शैली के कारण प्रभावोत्पादक और विशिष्ट प्रतीत होती हैं । अभिव्यक्ति की आत्मसजगता ही इन कविताओं को उनकी अभिजात्यता के बावजूद उनके विशिष्ट सौन्दर्य बोध वृहत्तर कैनवास में प्रस्तुत करती है ।

उधर चिड़ियाओं के कुछ दबे हुए शोर में
हरी दूब की नोंक पर चमकता ओसकण क्या तुम हो ?[75]

`थोड़ी सी जगह` की कविताएं प्रेम एवं प्रकृति की भी कविताएं हैं । प्रकृति का निर्व्याज सौन्दर्य अशोक के यहां अपने विराट रूप में लक्षित है । यह प्रेम प्रकृति के भुरभुरे में ही उपजता है और उसी में विस्तार पाता है । छायावादी कवियों की तरह ही अशोक प्रकृति के मानवीकरण में सिद्ध तो हैं ही, मानव के प्रकृतिकरण में भी उनका कौशल अपूर्व है । समकालीन हिन्दी कविता में प्रकृति के मानवीकरण को कविता में आत्मसात् करने की प्रक्रिया, अज्ञेय, शमशेर जैसे ऐन्द्रिय कवियों से होकर अशोक वाजपेयी तक पहुंचती है । अज्ञेय की `नंदादेवी` शृंखला की कविताएं इस संदर्भ में उत्कृष्ट उदाहरण हैं -

यह भी तो एक सुख है
कि चुप निहारा करूं तुम्हें
धीरे धीरे खुलते
तुम्हारी भुजा के बादलों के उन्मोचन से

तुम्हारे विशद् वक्ष को
धूप की धाराओं से धुलते ।[76]

सर्वेश्वर के यहां --

अपनी आंखों के जल में
पंख फड़फड़ाकर उस सफेद हंस को
पाना विभोर गतिमान, तुम्हारी मुस्कान ।[77]

अशोक के यहां समूची कविता का भावबोध, सौन्दर्यबोध प्रकृति से ही अभिप्राणित होता है । कविताओं में सौन्दर्य बोध एवं कल्पना का जो विराट कैनवास प्राप्त होता है, वह इसी प्राकृतिक उपमानों के ही द्वारा - जिनमें जीवन को देखने और प्रेम को महसूस करने की गूढ़ सांकेतिक अभिव्यक्तियां हैं --

तुम हरी घास हो / मैं उड़ती हुई ओस
मुझे जरा सी एक नोंक दे दो
जहां मैं विलीन होने से पहले ठहर सकूं ।[78]

इन कविताओं में प्रेम जीवन के एक महत्वपूर्ण कल्पना के रूप में आया है । दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यहां प्रेम जीवन का उपजीव्य है । यद्यपि आनंद एवं रतिवादी भावनाओं में तैरने-उतराने के बावजूद जीवन की अदम्य इच्छा और उत्साह है, वही एक स्तर तक इन कविताओं को नियंत्रित करता है । जीवन में प्रेम एवं प्रेम में जीवन की स्पष्ट कामना करने वाला कवि एक भरी-पूरी दुनियां का निर्माण कर उससे अनुस्यूत जीवन के `शेड्स` देखने का प्रयास करता है । ये कविताएं एक भिन्न अर्थ में प्रेम के बहाने जीवन से आसक्ति की कविताएं हैं । अनायास नहीं है कि इनमें प्रेम, प्रकृति, जीवन, सौन्दर्य, रति सब एक दूसरे से आंतरिक स्तर पर मजबूती से गुंथे दिखते हैं और एक परिपक्व काव्य समय के निर्माण की प्रक्रिया में शामिल रहते हैं । प्रेम को स्थायी कवि समय मानते हुए अशोक यह कहते हैं कि 'प्रेम जीवन एवं भाषा दोनों में ही अपना समय और अनंत अलग रचता आया है । सदियों से वह स्थायी कवि-समय

रहा है, जिसने जीवन में प्रेम नहीं किया, वह मनुष्य क्या और जिसने कविता में प्रेम नहीं किया, वह कवि क्या ?[79] कहना न होगा कि इस कठिन समय में प्रेम के प्रति कवि की आसक्ति के मूल में उसकी जिजीविषा और रसिकता ही है । अरुण कमल ठीक कहते हैं -- अशोक जिजीविषा और रसिकता के कवि हैं, उनकी कविताएं जीवन के प्रति सम्मोहक आकर्षण हैं । उनमें जीवन का उल्लास है तो प्राय: रिक्तता का अवसाद भी ।[80]

हम नहीं बचेंगे / पर बचा रहेगा
दिन भर की बारिश के बाद
दूर तक धूप में चमकता हरीतिमा का आश्वासन
बचा रहेगा / पत्ती-पत्ती खिलता झरता प्रेम ।[81]

प्रेम में जीवन की कल्पना के साथ ही साथ मृत्यु जैसी भयपूर्ण अभिव्यक्ति की भी संवेदना प्राप्त होती है, वह भी लगभग उत्सव के संदर्भ में ही । जीवन एवं मृत्यु से आत्मसाक्षात्कार करती हुई एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिकता के दर्शन इन कविताओं में अक्सर ही प्राप्त होते हैं । दिलचस्प तथ्य यह है कि यह आध्यात्मिक स्वर ईश्वर विहीन है, बल्कि इस आध्यात्मिकता के केन्द्र में मनुष्य है (प्रेमी) जो नए-नए तरीकों द्वारा प्रेम की आवश्यकता को समूचे संसार के साथ बांटना चाहता है । वास्तव में यह वैयक्तिक आध्यात्मिकता अपनी निजी आत्माभिव्यक्ति और संसार के होने के अचरच के भाव से जुड़ी है । संसार की रहस्यात्मकता के प्रति कवि का जिज्ञासा भरा भाव ही इसे खोलता हुआ प्रेम के समीप ले जाता है --

मैं आया हूं / जैसे आराधना के बीच जलती दीपशिखा
जैसे थकी यात्रा में अप्रत्याशित पाथेय
जैसे सदियों से भटकती ठौर पर
पहुंचती एक पुकार ।[82]

प्रेम का दार्शनिक आख्यान प्रस्तुत करती ये कविताएं जीवन के आध्यात्मिक पक्ष से सीधे संवादरत होती हैं और उसी में अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग तलाशती

हैं । प्रेम एवं मृत्यु से उभरे भाव-संवेदनों और प्रेम के मध्य एक तार्किक सामंजस्य का निर्माण यहां उत्पन्न होता है जिसमें प्रेम मरता भी है और देह भी त्यागता है, परन्तु उसके बाद भी वह नष्ट होने के बजाय शब्द में विस्थापित हो जाता है । प्रेम शब्द में भी जीवित और कवि द्वारा गढ़े गये आनुभाविक देह में भी । मदन सोनी कहते हैं - प्रेम एवं कविता के बीच सामंजस्य की यह संभावना, एक दारुण एवं विडम्बनापूर्ण संभावना है । इसमें जो दारुण पक्ष है, वह प्रेम की मृत्यु का है । उसे यह अवाक् देह भी त्यागनी पड़ती है, यह देह त्याग कर ही वह शब्द में प्रवेश करता है और इस उत्सर्जित देह की ही भांति ही अपने संदर्भ में स्वयं पूर्ण आत्मास्थित कविता की देह को गढ़ता है ।[83]

शब्द को बेधता है शब्द
शब्द को भरता है शब्द
शब्द नाचता है
मौन को संक्षिप्त अनन्त में ढालते हुए ।[84]

अशोक वाजपेयी के यहां रूढ़ अर्थों में प्रेम का निपट सामाजिक रूप तो अव्याप्त है , क्योंकि प्रेम अपने जिस ऐन्द्रिक स्वरूप के साथ प्रवेश पाता है, वह प्रमुखत: प्रकृति एवं ब्रह्माण्ड के विविध रूपकों से ही सराबोर होता है । प्रेमी की ऐन्द्रिकता का निदर्शन फूल, पत्तों, टहनियों तक तो जाता ही है, कभी-कभी उद्दाम कल्पनाओं का वेग इन्हें अतिक्रमित करता हुआ अनंत की चुप्पी को भेदता हुआ, उसके गलियारे में भी अपनी पदचापें बिखेर आता है । रूपकों, गुंजलकों की अपूर्व कल्पना प्रेम में समूची सृष्टि को अपने भीतर समाहित कर लेती है । यही कारण है कि ऐन्द्रिय सौन्दर्य बोध के नए-नए आयाम् यहां उद्घाटित होते चलते हैं और संसार का बंद रहस्य खुलता जाता है । रूपकों की यह कल्पना कभी कभी बेहद मायावी हो उठती है और कभी बिल्कुल परिचित सी कोई घटना --

जैसे आकाश तुम्हारे कंधों पर
वस्त्र की तरह पड़ा है

कि नूपुरों की तरह
बंधे हैं फूल और नक्षत्र / तुम्हारे चरणों ।[85]

मूलत: रति और देह के कवि के रूप में विख्यात (कुख्यात) अशोक सदैव प्रेम के शुभदा, सुखद रूपों की कल्पना में लीन रहते हैं । इसी आकर्षण की एक जुगलबंदी रंगों के एक व्यापक वैभव लोक की सृष्टि करती है । शमशेर के बाद रंगों का यह मनोहारी चित्रण अशोक के यहाँ ही प्राप्त होता है । प्रेम को सुखद एवं समृद्ध बनाने की कल्पना के कारण ही हरा रंग काफी प्रयोग हुआ है । हरी घास, हरा स्पंदन, हरा बिछौना आदि का बार बार प्रयोग प्रकृति के ऐसे अनुभवों से परिचित कराता है जो वर्तमान कविता में अपरिचित होते जा रहे हैं ।

'थोड़ी सी जगह' में कुछ पुरानी विपर्यस्त पड़ चुकी स्मृतियां पुन: लौट कर आती हैं, यह भी कवि की कल्पना का ही नमूना है कि वह पुराने चित्रों को बार बार सहेजता हुआ वर्तमान में ले आता है । हालांकि यह भी सही है कि ये कविताएं किसी भी तरह 'नास्टलेजिक' या आंतरिक अवसाद की खिन्नता के रूप में प्रकट नहीं होती है, हां, प्रेमिका के न मिल पाने के बोध से उपजी कसक अवश्य टीसती है, फिर भी वह आनंदानुभव के एक उपतत्व के रूप में है --

अगर तुम मिल जाते सही समय
तो मैं मृत्यु को आमंत्रित कर सकता था
शाम के खाने पर
और समय को पोटली में लपेट कर
मनचाहे मोड़ पर बैठा रह सकता था ।[86]

इन कविताओं में आत्मपीड़ा और दुखते मूल्यों से भीतर ही भीतर संयमित होकर उद्वेलित होता कवि अपने कसकते हुए अंधेरे को भी सुख की गरमाहट प्रदान कर उसे बचाने का प्रयास करता है । इसीलिए ये कुछ कविताएं रूढ़ अर्थों में विरह की कविताएं नहीं हैं । क्योंकि प्रेम की कामना ही इन कविताओं में

प्रेम के विशद् स्वरूप का उत्स निर्मित करती है । यह कामना अलक्ष्य रह गए रागात्मक जीवन की भी है, और प्रेम की विशदता की भी ।

तुम चले जाओगे
पर थोड़ी सी हंसी
आंखों की थोड़ी सी चमक
हाथ की बनी थोड़ी सी कॉफी / यहीं रह जायेंगे
प्रेम के इसी सुनसान में ।[87]

प्रेम की जिस उदात्त कल्पना से कवि भरा पूरा रहता है, उसमें भावुकता अथवा रोमानीपने के अवसर काफी कम आए हैं, जिसका कारण है कि यह कल्पना और अनुभव कच्ची वय की उच्छृंखल कल्पनायें नहीं हैं । इनमें प्रेमी प्रेम के एक परिपक्व जीवन-दर्शन की तलाश में जुटा रहता है और इसी परिकल्पना के प्रस्फुटन के लिए वह आनंद एवं देह की संरचना निर्मित करता है । मानवीय बोधों से टकराता है, दुनियां और जीवन को सुखद बनाने के सपने देखता है । इसीलिए इनमें प्रेम का आग्रह भी है और समर्पण भी है । वह याचक की भी भूमिका में है और दाता की भी --

प्रेम एवं राग से पहले
आएगी उसे छूने आयु ।[88]
+ +
तुम्हें एक पल देख पाने की / बच्चे जैसी अबोध इच्छा
वैसी ही बनी है
जैसे अधेड़ अस्थियों के बावजूद
धमनियों में बहता है ताजा रक्त ।[89]

संदोह में अशोक वाजपेयी अपनी कविताओं में प्रेम की ऐसी कल्पना में तैरते हैं, जहां अवसाद, अश्रु, रक्त की पीड़ा नहीं है । यह कल्पना जीवन के

होने की और प्राकृतिक सौन्दर्य से खेलती दैहिक आत्मानुभूतियों की कविताएं हैं । कवि प्रेम के बहाने समूची सृष्टि का कायाकल्प कर एक नवीन रागात्मक लोक की सृष्टि की कल्पना में तत्पर है और इस उदात्त कल्पना के मूल में कवि की जिजीविषा और रसिकता अपनी भूमिकाओं के निर्वहन में सदैव तैयार खड़ी दीखती है -

सुखद सूर्य / ओस और आंसू से भीगी हरी दूब
भोर से ही सक्रिय पक्षी
तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं ।[90]

0

संदर्भ

1. थोड़ी सी जगह - अशोक वाजपेयी, पृ0 15
2. घास में दुबका आकाश (भूमिका) - अशोक वाजपेयी, पृ0 8
3. समीक्षा (सं0 गोपाल राय) - जु0 दिस0 1996, पृ0 8
4. तिनका - तिनका - अशोक वाजपेयी, पृ0 283
5. सायकोलाजी आफ सेक्स - हैवलाक एलिस (लंदन, 1936), पृ0 278
6. साक्षात्कार (सं0 ध्रुव शुक्ल) जन0 मार्च0 1995, पृ0 120
7. थोड़ी सी जगह, पृ0 97
8. छायावाद : उत्थान, पतन, पुनर्मूल्यांकन - डा0 देवराज, पृ0 31
9. लव एंड ह्यूमन सेपरेटनेस - इलहाम डिलमंन, पृ0 79
10. काम, प्रेम और परिवार : जैनेन्द्र कुमार, पृ0 15
11. थोड़ी सी जगह, पृ0 23
12. वही, पृ0 75
13. रोलां ब्रारुत से फिलिप रोजर की बातचीत(मुखाग्रह से उद्धृत) पृ0 128
14. थोड़ी सी जगह, पृ0 53
15. नवभारत टाइम्स, 10.9.94

16. साक्षात्कार (सं० ध्रुव शुक्ल) जनवरी मार्च1995, प० 128
17. थोड़ी सी जगह, पृ० 53
18. साक्षात्कार, जनवरी मार्च 1995, पृ० 120
19. भक्ति आन्दोलन एवं सूरदास का काव्य - मैनेजर पाण्डेय, पृ० 158
20. 'साधना' (1917 लंदन), पृ० 107
21. इंडिया टुडे, 15 मई, 1995
22. भक्ति आंदोलन एवं सूरदास का काव्य - पूर्वोदृत, पु० 158
23. थोड़ी सी जगह, पृ० 61
24. माया, फरवरी 28 , 1994
25. थोड़ी सी जगह, पृ०
26. साक्षात्कार, जनवरी मार्च 1995, पृ०121
27. तिनका-तिनका, पृ०313
28. सूरसागर - सूरदास (पद 2628)
29. गीत गोविन्दम् - जयदेव (पद 1216)
30. कुमारसंभवम् - कालिदास (पद 37)
31. साक्षात्कार, जनवरी मार्च 1995, पृ० 122
32. थोड़ी सी जगह, पृ०
33. द पायनियर (21 सितम्बर 1996)
34. तिनका-तिनका, पृ० 310
35. वही, पृ० 210
36. राष्ट्रीय सहारा (31.12.91)
37. तिनका-तिनका, पृ० 306
38. थोड़ी सी जगह, पृ० 18
39. साक्षात्कार (जनवरी मार्च 1995), पृ० 119
40. वही, पृ० 133
41. साक्षात्कार (जनवरी फरवरी 1985) पृ०
42. वही, पृ० 123
43. रोलां ब्रारुत से फिलिप रोजर की बातचीत, पूर्वोदृत

44. तिनका-तिनका, पृ0 304
45. साक्षात्कार 1996, पृ0 118
46. मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोद्धृत, पृ0 158
47. तिनका-तिनका, पृ0 200
48. नवभारत टाईम्स - 30.8.92
49. समीक्षा, पूर्वोद्धृत, पृ0
50. तिनका तिनका, पृ0 200
51. वही, पृ0 303
52. प्रतिनिधि कविताएं (सं0 नामवर सिंह), पृ0 184
53. वही, पृ0 7
54. तिनका-तिनका, पृ0 313
55. लव एंड ह्यूमन सेपरेटनेस - सं0 इलहाम डिलमैन, पूर्वोद्धृत, पृ0 79
56. मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोद्धृत, पृ0 158
57. वही, पृ0 184
58. साक्षात्कार - अगस्त 1995
59. अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा : रमेश कुंतल मेघ, पृ0 431
60. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ0
61. ए हिस्ट्री आफ एस्थेटिक - गिलबर्ट एंड कून (संभावना अंक दो), पृ0 35
62. हिन्दी साहित्य कोश (सं0 डा0 धीरेन्द्र वर्मा, भाग एक) पृ0 9
63. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य - पूर्वोद्धृत, पृ0 161
64. थोड़ी सी जगह, पृ0 60
65. वही, पृ0 91
66. जनसत्ता - 12.2.95
67. थोड़ी सी जगह, पृ0 141
68. जनसत्ता - 12.2.95

69. कथादेश (सं० हरिनारायण) मई, अंक दो, 1997, पृ० 38
70. आधुनिक कविता की यात्रा - शंभूनाथ चतुर्वेदी, पृ० 142
71. वही, पृ० 142
72. कथा देश, पूर्वोदृत, पृ० 38
73. थोड़ी सी जगह, पृ० 150
74. वही, पृ० 65
75. वही, पृ० 129
76. सदानीरा - अज्ञेय, पृ०
77. प्रतिनिधि कविताएं (सं० प्रयाग शुक्ल) पृ० 33
78. थोड़ी सी जगह, पृ० 29
79. वही (भूमिका), पृ० 1
80. समकालीन भारतीय साहित्य (सं० गिरिधर राठी) पृ० 137
81. थोड़ी सी जगह, पृ० 148
82. वही, पृ० 92
83. विषयान्तर - मदन सोनी, पृ० 134
84. थोड़ी सी जगह, पृ० 151
85. वही, पृ० 60
86. वही, पृ० 138
87. वही, पृ० 116
88. वही, पृ० 73
89. तिनका-तिनका, पृ० 312
90. थोड़ी सी जगह, पृ० 102

0

अध्याय चार

'थोड़ी सी जगह' का शिल्प सौन्दर्य

शब्द विधान

भाषा

बिंब

प्रतीक

अप्रस्तुत विधान

छंद और लय

ऐन्द्रिकता

अध्याय - चार

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं का शिल्प-विधान

(क) शब्द-विधान

अशोक वाजपेयी शब्द के प्रति बेहद सतर्क कवि हैं । वास्तव में उनकी कविता जिस मन:स्थितियों या प्रेम के जिस समग्र अनुभवों की कविता है, उसकी आधारभूमि प्राचीन संस्कृत काव्य और छायावाद की है । अत: इन कविताओं की अभिव्यक्ति के लिए कवि को संस्कृत की सामासिक पदावली ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है । कम से कम इन कविताओं को पढ़ते समय बार-बार यही बात प्रतीत होती है ।

प्रस्तुत संग्रह की कविताओं में शब्द विधान समकालीन कविता के शब्द-विधान और शब्द-भंडार से बिल्कुल अलग हैं । समकालीन कविता में जहां जीवन के आसपास के देशज शब्दों का खुला प्रयोग है और उन्हीं से कविता को (प्रेम कविता भी) अर्थवत्ता देने का प्रयास है, वहीं अशोक वाजपेयी प्राचीन तत्सम् शब्दों को अपनी कविता में जस का तस प्रयोग कर लेते हैं । ऐसा हम नहीं कहते और ऐसा है भी नहीं कि नए और देशज शब्दों से कवि का किनारा-कशीं करने का प्रयास है या नवीन शब्दों के अर्थ संप्रेषण पर कवि को भरोसा नहीं है । प्राचीन और विपर्यस्त हो चुके शब्दों को पुन: कविता में ढाल कर प्रस्तुत करना अशोक वाजपेयी की अनुभूति का अपना आग्रह है और कविताओं को पढते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि कविताओं के `शील' की रक्षा के लिए कवि का यह आग्रह उचित है । ये शब्द हमारी परम्परा के शब्द हैं और अशोक वाजपेयी कम से कम इन शब्दों के प्रयोग से परंपरा के अनुशीलन का ही

प्रयास करते हैं । यह अलग प्रश्न है कि उस परम्परा के आग्रह की कितनी प्रासंगिकता अभी शेष है ? बहरहाल, प्राचीन शब्दों के प्रति आसक्ति के कारण ही ये कविताएं एक नवीन प्रकार की दिव्यता को प्राप्त होती हैं तथा अपनी सहज उपस्थिति से एक नए प्रकार का संप्रेषण प्रस्तुत करती हैं । मदन सोनी का कहना है - `शब्द इन कविताओं में प्राचीन काव्य-ग्रंथों से शताब्दियों लंबी यात्रा करते हुए आते हैं और अपनी पूर्वज उपस्थिति से इन कविताओं और उन काव्य ग्रन्थों के बीच एक आनुवंशिकी कायम कर देते हैं ।[1]

नेत्र भरे हैं
स्वप्न एवं प्रियदर्शन से
उरोज यौवन से
सघन जंघाएं रस-लालित्य से
मैं कब कैसे भरी जाऊंगी ?[2]

रीतिकालीन कविता का यह स्वर शायद समकालीन हिन्दी कविता में किसी अन्य कवि के यहां नहीं होगा । न ऐसे शब्द, न ऐसी व्यंजना और न ही नायिका के ऐसे अकुलाहट भरे भाव । काव्य भाषा के इतने समाज-सापेक्ष एवं विकसित होने के बाद भी भाषा एवं शब्दों के इस प्राचीन लिबास से कविता को ढंके रहने का कारण थोड़ा अटपटा और अप्रासंगिक जरूर प्रतीत होता है । इसीलिए बहुत से समालोचकों को अशोक वाजपेयी की `प्राचीनता से आसक्ति एवं मोह` का कारण ठीक-ठीक समझ में नहीं आता है । परन्तु अशोक वाजपेयी अपनी इस `आसक्ति` के पीछे छिपी रहस्यात्मकता का खुद ही उद्‌घाटन कर देते हैं - `मेरी कविताओं में अवतरित हो रहा प्रेम पहले विन्यस्त प्रेम को पुकारता है, तभी एक ही कविता में मेरे शब्द कालिदास की एक उक्ति और देव (रीतिकालीन कवि) की छवि में ऐसे गुंथ जाते हैं कि उन्हें अलगाना आसान नहीं है । पर उसमें प्रेम की जो अर्थ सघनता संभव होती है,

वह इस शब्द-स्मृति के बिना न तो हो सकती है और न ही समझी जा सकती है ।[3] अशोक वाजपेयी के लिए ये शब्द सिर्फ प्राचीनता को अभिव्यंजित नहीं करते हैं, बल्कि वे इनमें स्मृतियों के अंतरिक्ष की तलाश करते हैं ताकि कविता को अर्थ सघनता दी जा सके ।

शब्दों के प्रति कवि का एक गहरा स्वं आत्मीय संस्कार बोध है । इसी लिए इन कविताओं में शब्द औंचक ही उत्पन्न नहीं होते, बल्कि श्लथ चाल से आते हैं और देर तक अपना प्रभाव छोड़ते हैं । कवि इन शब्दों को न जाने किन-किन प्राचीन आलों से लेकर आता है और इनके द्वारा प्रेम की सघनता और उसकी विभिन्न अर्थच्छवियों के बारीक संगुफन को कविता में प्रतिष्ठित करता है । यही कारण है कि ये कविताएं कहती नहीं, बोलती हैं । अज्ञेय ने `चुनी हुई कविताएं ` की भूमिका में कहा है कि `कवि की खोज अर्थवान शब्दों की खोज है`[4] । कवि कविताओं में ऐसे शब्दों को ले आता है जिनसे अर्थ की नयी-नयी छवियां प्रस्तुत होती रहती हैं,

> हवा पास जाकर पत्तियों से कहती है हाँ
> जल जड़ों में प्रवेश कर कहता है हाँ
> एक लज्जारुण आकाश की तरह
> छा जाता है स्वीकार ।[5]

प्रसिद्ध साहित्य विचारक मलार्मे का एक प्रसिद्ध वाक्य है `कविता विचारों से नहीं, शब्दों से लिखी जाती है` । इसी बात को अज्ञेय कुछ दूसरे ढंग से कहते हैं - `कविता भाषा में नहीं, शब्दों में होती है ।`[6] अशोक स्वयं भी कविता को महान विचारधाराओं के पिछलग्गू बनने और उनके झण्डे ढ़ोने के खिलाफ है ।[7] शब्द से ही कविता-कर्म संभव है, क्योंकि शब्द ही हमें ऐसी दुनियां में पहुंचा सकते हैं, जहां हम पहले नहीं गये होते हैं । पर ऐसा भी नहीं कि कविता में विचारों की कोई भूमिका नहीं होती, विचार तो उसका मूलसंवेदन बिन्दु है । जहां से कविता अपनी ऊर्जा प्राप्त करती है, लेकिन अंतत: महत्वपूर्ण शब्द-विधान ही होते हैं, काव्य निर्माण में ।

भाषा की एक स्वतंत्र सत्ता है, उसी सत्ता में शब्द क्रियाशील होते हैं, अपने संस्कार, अपनी स्पृहा, अपनी पूर्णता एवं अपने सौन्दर्य के साथ । कवि की चेतना इन शब्दों को सहेज कर उसे एक विन्यास देती है और तब कविता के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है । अशोक की यह सजग चेतना इन कविताओं में साफ-साफ प्रतिबिम्बित होती है शब्दों के विन्यास को एक गति प्रदान करते हुए । अपनी सहज आत्मीय उपस्थिति से ये शब्द कविता में प्राण एवं रंग भरते हैं और कविता से अपने संबंधों का स्वरूप निर्धारण करते हैं । डा० सत्य प्रकाश मिश्र का कहना है कि `कविता में शब्द अपना संबंध स्वयं निर्धारित करते हैं और वह संबंध भी महत्वपूर्ण होता है, जो नयी अर्थच्छवियों और अनेक अर्थस्तरों को बढ़ाता है । भाषा अपने में एक व्यवस्था है और शब्दों का उसरो संबंध अंतर्वैयक्तिक है` ।[8]

ये शब्द इन कविताओं में रूपक बनते हैं, विशेषण बनते हैं, संज्ञायें बनते हैं और अपने अनेक अर्थस्तरों को क्रमश: खोलते जाते हैं, जिनसे कभी प्रकृति के आत्मीय रूप का नि:दर्शन होता है तो कभी प्रेम का प्रवाह अपनी सहजता में प्रवाहित होता दिखता है । ये कविता में अलंकारों को भी साथ लेकर चलते हैं और रस-योजना के निर्माण में संलग्न होते हैं । मदन सोनी लिखते हैं -`ये हिन्दी की संभवत: अकेली ऐसी कविताएं हैं, जिनमें `शब्द` नामक शब्द व्यापक रूप से कविता की अलंकार सामग्री एवं रस-योजना का अंग बनकर आया है ।`[9] कहना न होगा कि अशोक की ये कविताएं अपने शब्द-समूह की भरी पूरी और समग्र उपस्थिति से प्रेम के मार्ग में क्रियाशील रहती हैं ।

प्रकृति संबंधी संज्ञायें इन कविताओं में बड़ी संख्या में प्राप्त होती हैं । प्रकृति से अपनी इसी आसक्ति एवं मोह के कारण इन कविताओं के मूल में सर्वथा प्रकृति का ही उत्सव चलता रहता है, अपनी पूरी सज और धज के साथ । शब्द चयन के लिए अशोक प्रकृति के आह्लाद को निहारते हैं एवं प्रकृति से शब्द नि:सृत होकर अपने सौन्दर्य बोध एवं आत्मीयता के साथ कविता में प्रकट होते रहते हैं । यही कारण है कि पूरी प्रकृति शब्दों के माध्यम से इन कविताओं

में बजती रहती है । ये शब्द बार-बार कविता में लौटते हैं अपनी सजग और आत्मीय ऐन्द्रिकता के साथ ।

इन शब्दों में प्रमुख रूप से दूब, पेड़, पृथ्वी, चिड़ियां, आकाश, देह, शरीर, धूप, आग, हरियाली, तितली, ओंस, गुलमोहर, अमलताश, पलाश, पत्तियां, फूल, फल, तोता, कीड़े, झाड़ियां, चांद, पानी, पुरानी बावड़ी, गौरैया, अंतरिक्ष, देवता, नक्षत्र, अनन्त, धुंधरू, दोपहर, शाम, रात, भोर, पहाड़, खिड़की, हवा, वनलतायें, हरीतिमा, अरण्य रोदन, चुंबन, कुचवृंत, उरोज, अंजलि, गहरी आर्द्र घाटी, क्सिलय, रक्ताभ, पर्वतमालायें, हेमंत, वसंत, पूर्णिमा, एकादशी, ब्रह्मांड, पूर्ण चंद्र आदि-आदि हैं । उपरोक्त शब्द कविता में बार-बार आते हैं और शायद ही ऐसी कोई कविता न हो जिसमें इन पुराने पड़ रहे शब्दों को समायोजन न हो । यद्यपि ये सभी नवीन संज्ञा रचनाएं नहीं हैं, फिर भी इनमें अलग-अलग अनुभूतियों का रचनात्मक संयोजन दिखता रहता है, जो अशोक वाजपेयी की अपनी निजी विशेषता कही जा सकती है । उदाहरण-स्वरूप सूर्य कुसुम, सूर्य नदी, सूर्य आकाश, वसंत दिन, प्रसव संगीत, फूल चेहरे, उत्सव स्पर्श आदि संरचनाओं को देखा जा सकता है --

जब मेरे होठों पर
तुम्हारे होठों की परछाईयां झुक जाती हैं
और मेरी उंगलियां
तुम्हारी उंगलियों की धूप में तपने लगती हैं
तब सिर्फ आंखें हैं
जो प्रतीक्षा करती हैं मेरे लौटने की
उन दिनों जब मैं नहीं जानता था कि
दो हथेलियों के बीच एक कुसुम होता है ।
- सूर्य कुसुम । [10]

प्रकृति संबंधी और रति संबंधी संज्ञाओं की इन कविताओं में प्रधानता

है । कहीं कहीं तो रति एवं प्रकृति की संज्ञायें आपस में इस कदर घुल-मिलजाती हं कि उन्हें अलग कर पाना कठिन हो जाता है । संज्ञाओं का अनछुआ और ताजा रचाव कविता की जमीन को एक नयी अर्थवत्ता दे देता है, एक ऐसी रागात्मक अर्थवत्ता जो समकालीन कविता में लगभग नहीं है । इन टटके विशेषणों में कहीं सांझ का फूल है, कहीं सांझ के आईने, कहींटहनियों का आकाश, कहीं बादलों की रोशनियां, कहीं क्रान्त का उजाला, कहीं चट्टानों के नीचे केलिरत कीड़ों की पंक्तियां, कहीं चट्टानों, फूलों का सोनल आकाश, तो कहीं शरीर का सौन्दर्य रचना में गुंथाव ।

कहने का आशय यही है कि प्रकृति एवं देह को साधता हुआ विभिन्न संज्ञाओं का समूह कविता को एवं कविता में व्यक्त `विन्यस्त प्रेम` को गहरा भी करता है और उसे ऊंचाई भी प्रदान करता है । यद्यपि नई कविता के इस दौर में जहां शब्द विचारों के संवाहक मात्र बनकर रह गये हैं, ये संज्ञायें कविता का एक नया लोक रचती हैं, यह दीगर बात है कि इस निजी दुनियां (लोक) के बाहर `प्रवेश नहीं ` की तख्ती टंगी है, क्योंकि इसका दायरा बेहद सीमित है, प्रेम की अपनी विभिन्न रंग छवियों एवं कामनाओं के बावजूद ।

उसके देह के चंद्रोदय में
ओस सा भीगना है ।[11]

`थोड़ी सी जगह` की इन कविताओं में विभिन्न प्रकार के विशेषण प्रस्तुत हुए हैं । यद्यपि इन विशेषणों में मानव स्थिति बोधक एवं सामाजिक मूल्य बोधक विशेषणों की न्यूनता है और कहना न होगा कि यही न्यूनता अशोक वाजपेयी के काव्य में मानवीय वस्तु एवं मानवीय सरोकारों की क्षीणता को रेखांकित करती है । फिर भी काल संबंधी एवं आकार संबंधी विशेषण उनके यहां अन्य कवियों से अधिक प्रकट हुए हैं । रंग विशेषण का आग्रह इन कविताओं में काफी समृद्ध मात्रा में प्राप्त होता है । हरा, पीला, लाल, नीला, काला, सफेद, सोनल, चम्पई विशेषणों का प्रयोग सर्वाधिक है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सारे रंग जीवन के सुखद पक्ष इत्यतता को ही प्रदर्शित करते हैं । इन रंगों में सबसे अधिक हरा रंग ही कवि को अधिक आकर्षित करता है । हरी दूब, हरी घास, हरी पत्ती, हरा आकाश आदि विभिन्न `हरित विशेषण` इन कविताओं में प्रयुक्त हुए हैं । शायद इसी से सुमन राजे कहती हैं कि `वह सातवें दशक के सर्वाधिक `हरियाले` कवि हैं ।[12] हरे रंग के प्रति अशोक की इस आसक्ति को प्राकृतिक जीवन से उनके गहरे आत्मीय लगाव से जोड़ कर देखा जा सकता है और यदि चाहें तो इसे जीवन के हरे-भरे स्वस्थ पक्ष के प्रति उनकी संपृक्ति का भी लक्षण कहा जा सकता है -

मैं प्रस्तावित करता हूं
हरियाली पर पहली ओस ।

इसके अतिरिक्त उपमा मूलक विशेषण अशोक वाजपेयी के यहां सर्वाधिक प्रयुक्त होते हैं । इन उपमानों में प्रेमिका के महिमामंडन की ही व्यग्रता एवं विकलता नहीं है, बल्कि उससे भी आगे जा कर प्रेम की रचनात्मकता और उस की परिपक्वता के बखान का भी प्रयास है । निश्चय ही इनमें अज्ञेय की `कलगी बाजरे की` जैसी खनक और झनक नहीं है, फिर भी एक विशेष प्रकार की ताजगी, सलोनापन एवं ऐन्द्रिकता है । कुछ बिलकुल ताजे उपमान अशोक के यहां प्रयुक्त हुए हैं और कुछ पुराने उपमानों को नयी ताब के साथ प्रस्तुत किया गया है । उदाहरणस्वरूप - बाहें ऋतुओं की तरह सुवा, हृदय एक प्रार्थना सा, देह हरी घास का गोरा बिछौना, तुम सांझ गंध सी, मैं जलबिम्बों सा, पतझर के पहले पत्तों सी, बसन्त की तरह सजी संवरी, खिलखिलाता हरा दृश्य, हरा आकाश, हरा गान, हरी दीवार, भूरी हंसी, काली घासें, सुगन्धित अंधेरा इत्यादि । अशोक की कविताओं में यह विशेषण विशिष्ट नवीन प्रयोगों के रूप में उपस्थित होते रहते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ विरोधमूलक विशेषण भी इन कविताओं में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे - संक्षिप्त अनन्त, चमकदार अंधेरा, हरी दीवार पर अंधेरा डालती हुयी धूप आदि । कवि की सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न ये नवीन, विशिष्ट विशेषण प्रयोग सार्थक सुंदर, रंगत हैं और जीवन की सुखद रंगतों से आद्यान्त जुड़े हुए हैं ।

इन कविताओं में वनस्पतिकरण, एवं वास्तवीकरण की संज्ञाओं का अधिक प्राधान्य है । वनस्पति के कुसुमीकरण की प्रवृत्ति उनमें कहीं अधिक प्रबल है । अनायास नहीं है कि कभी उनको लगता है कि एक चेहरा कुसुमित हो आया है, तो कभी वह बाहों में प्रिया के आक्रांत लावण्य को `खिला हुआ` पाते हैं, तो कभी वह देहों केकुसुमन से भविष्य की सैर कर आते हैं --

जब से तुमने अंधेरी उत्सुक देहों को
एक उज्जवल गुफा में कुसुमित होने दिया है
खुल गया है द्वार एक भविष्य में ।

जो स्थिति वनस्पतिकरणों में खिलने की है, वही वास्तवीकरण में लिखने एवं बुनने की । इन क्रियाओं का आरोपण उन्होंने अनेक भिन्न क्षेत्रीय संज्ञाओं के साथ सार्थकतापूर्वक किया है । अनायास वे `आवाजों से अपना एक छोटा संगीत बुनते हैं, तो कभी प्रिया उन्हें प्यार से, करुणा से मनचाहे ख्वाबों में बुन देती है, तो कभी सूर्यास्त लोगों के चेहरों पर एक मौन लिख जाता है`। ये सभी क्रियायें अशोक की प्रिय क्रियायें हैं, क्योंकि इन कविताओं में इनका बार-बार प्रयोग होता है ।

संक्षेप में अशोक वाजपेयी का अप्रतिम शब्द-विधान और व्यापक अनुभवों को मनचाहे शब्दों में ढालने का कौशल कविताओं में व्यक्त प्रेम को पूरे वैभव के साथ उभारता है, कभी संज्ञाओं, कभी उपमानों अथवा कभी विशेषणों के समुचित प्रयोग से । तमाम सारी बातों के बाद यहां यह भी कहना आवश्यक हो जाता है कि ये कविताएं अपने वैभवपूर्ण पदावली के बावजूद भी सामाजिक अनुभूतियों की जद से स्वयं को दूर ही रखती हैं और यदि सुमन राजे के शब्दों में कहें तो `अपनी ही इत्यतता के लिए चिन्तित होने का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं ।`[13]

अशोक वाजपेयी की काव्य धर्मिता जीवन की स्वस्थता, रंगीनी-हरियाली में कवि की गहन अभिरुचि, उत्तम एवं मध्यमपुरुष क्रियाओं की सबलता संज्ञा, विशेषण एवं क्रिया प्रयोगों में एक संगत, सार्थक एवं रचनात्मकनवीनता के रंग

(ख) भाषा

भाषा का जैसा आग्रह अशोक की कविता में प्रस्तुत हुआ है, वह सीधे संस्कृत के क्लासकीय काव्य एवं छायावाद के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है । भाषा के स्तर पर अशोक सबसे निकट छायावाद के हैं । यही कारण है कि शब्दों के माध्यम से जैसा एक विशाल कैनवास छायावाद के कवि या अज्ञेय या शमशेर रचते हैं, लगभग वही अन्तर्ध्वनियां अशोक के यहां भी पायी जाती हैं जिनमें लगभग भूले जा चुके शब्द, आलंकारिक बिम्ब-प्रतीकों का आकर्षक एवं सुन्दर समायोजन स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । इन कविताओं में भाषा अपनी पुरानी अर्थ-छवियों से टकराती हुई एक भिन्न प्रकार की संरचना में तैयार होती है। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि अज्ञेय के बाद हिन्दी काव्य में भाषा का ऐसा सुन्दर, प्रांजल एवं पारदर्शी रूप सीधे अशोक के यहां प्राप्त होता है । भाषा का रूप अपने आडम्बर के बावजूद उनके यहां सहज संप्रेषणीय है ।

अशोक वाजपेयी की भाषा परम्परा से ग्रहण की गयी भाषा का ही एक रूप है । दूसरे भाषा के प्रति नितांत सजग और संवेदनशील अशोक अपनी कल्पना एवं अनुभूति के लिए भाषा की एक प्राचीन व्यवस्था का पुनर्आविष्कार करते हैं । भाषा के इस पुन:संस्कार के अपने आग्रह हैं - सबसे बड़ा तो यह कि कविताओं के यौन उत्कंठाओं के उद्दाम चित्रों को भाषा का यह सधा प्रयोग ही संतुलित करता है । इन कविताओं में देहवाद के एकाग्रताओं की जो अब उत्सवधर्मिता अपने खुले रूप में आती है, उसे अश्लीलता एवं सिर्फ भोग-वादी आख्यान का पाठ बन जाने से भाषा का यही आग्रह बचा लेता है । अगर इतने में काव्य-संग्रह की भूमिका में अशोक यह स्पष्ट लिखते हैं कि 'कि पाठक यह लक्ष्य करेंगे कि काव्य भाषा की कुछ पुरानी एवं लगभग भुला देने वाली अन्तर्ध्वनियां पुन: सक्रिय हुई हैं ।'[14]

इन कविताओं में प्रयुक्त की गई भाषा में परम्परा जोड़ने का आग्रह तो

हैं ही, साथ ही नवीनता के अनुशीलन का एक प्रयास भी है। वास्तव में यह प्राचीनता को स्वीकार एवं नवीनता को अंगीकार करती हुई काव्य भाषा है। यही कारण है कि यह भाषा बहुत दूर तक जाती है, बिना विच्छृंखलित हुए। अज्ञेय भाषा को संस्कृति का सर्वाधिक शक्तिशाली एवं समृद्ध उपकरण मानते हैं।[15] अशोक वाजपेयी भी संस्कृति एवं परम्परा को अपनी भाषा में जीवित रखना चाहते हैं, यही कारण है कि लगभग छायावादी कविता का पुनर्संस्कार अज्ञेय की कविताओं से गुजरता हुआ उनकी कविताओं तक पहुंचा है। प्रमोद त्रिवेदी कहते हैं - 'अशोक वाजपेयी के भाषागत कुछ आग्रह हैं, इसीलिए वे अपनी कविताओं के लिए एक भिन्न काव्य भाषा आविष्कृत करते हैं। यों तो उनकी काव्य भाषा वही है जो छायावादी कवियों की थी। अज्ञेय ने उसका पुनर्संस्कार किया है और अशोक ने अज्ञेय की भाषा का। इस दृष्टि से अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा परम्परा का शोध भी है।[16]

परम्परा एवं आधुनिकता के बीच एक सतत् द्वन्द्व रहा है। परम्परा प्रचलित भाषा तत्व आधुनिकता में संपृक्त किए जाने से हिन्दी काव्य भाषा सदैव बचती रही है। एक तरह से कहें तो आधुनिकता परम्परा का अतिक्रमण करती है। परन्तु अशोक की यह विशेषता ही मानी जानी चाहिए कि उनके यहां इस द्वन्द्व का समुचित परिष्कार है। अर्थात् भाषा में नए-पुराने का आग्रह पूरी जिद् के साथ है --

वह गुनगुनाती है
समय की अंधेरी कंदरा में बैठा
काल-देवता सुनता है
वह हंसती है
बर्फ में ढंकी वनराशि सुगबुगाती है
वह चूमती है
सदियों की विजड़ित प्राचीनता पिघलती है।[17]

अशोक वाजपेयी ने जब कविता लिखना प्रारंभ किया, उस समय हिन्दी

कविता कर्म में एक बिलकुल भिन्न प्रकार की अराजकता का माहौल था । अकविता का दौर आ चुका था, भाषा अपनी परम्परा से लगभग कटती हुई वीभत्स रूप धारण कर रही थी और अकवियों द्वारा भाषा को तुर्श, वीभत्स एवं विद्रोही बनाने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाये जा रहे थे । भाषा के आगे अस्तित्व का संकट उत्पन्न हो गया था और वह लगभग निराशाजनक माहौल में झूल रही थी । अकविता की इन कलाबाजियों से भाषा कितनी दूर तक संप्रेषणीय हो पायी थी, यह कहना तो मुश्किल है, पर वह सपाटबयान और इकहरी जरूर हो चली थी । उस समय काव्य-भाषा का बिलकुल अलग स्वाद एवं परम्परा के `अपने ` आग्रह लिए कविता के मैदान में उतरे अशोक ने अपनी अनुभूति के माध्यम को प्रभावी बनाने तथा अपनी ऐन्द्रियता को संप्रेषणीय बनाने के लिए प्रचलित काव्य भाषा से बिलकुल भिन्न स्वभाव एवं संस्कार की भाषा में कविताओं को अभिव्यक्त किया । इस भाषा में ही जहां प्राचीन शब्दों एवं पुराने शिल्प विधान की स्पष्ट झलकियां थीं, वहीं उसका कसाव भी था । उनकी भाषा के छायावादी और उत्तरछायावादी भाषा की ऐन्द्रिकता से जुड़ने के मूल में भाषा की सपाट-बयानी और इकहरेपन के प्रति कवि की चिन्ता ही थी । अशोक इस बात को पुष्ट करते हुए `घास में दुबका आकाश` की भूमिका में लिखते हैं -`जब लगा कि कविता की भाषा अपनी निपट सपाटबयानी में इकहरी एवं अन्तर्ध्वनित होती जा रही है तो उसे एक तरह की नवछायावादी ऐन्द्रिकता से जोड़ कर कम से कम अपने लिए एक समृद्ध माध्यम बनाने की कुछ कोशिश की है ।`[18]

स्पष्ट तौर पर कवि की यह चिन्ता भी है और भाषा के प्रति उस की सजगता भी । सजगता इस अर्थ में कि वह भाषा के प्रति सापेक्षता का भाव रखता है और अपनी आंतरिकता के अनुभवों को भी नीरस होने से बचाता रहता है । इसके साथ ही कवि अपने अनुभवपरक अनुभूतियों को ऐन्द्रीयता का चोला पहनाकर उसे व्यक्त भी करना चाहता है । भाषा भी यहां पहुंचते-पहुंचते रूपकों वाली चक्करदार काव्य भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है । अशोक

भाषा के साथ इस तरह की क्रीड़ा इसीलिए करते हैं कि वह अपनी आंतरिकता के जटिल भावात्मक अनुभूतियों को पाठक तक संप्रेषित कर सकें । विपिन कुमार अग्रवाल `कल्पना` में काव्य भाषा पर प्रकाशित एक लेख में कहते हैं कि `आत्मपरक चिन्तन में डूबा कवि अपनी आंतरिकता को भी बचाए रखता है, क्योंकि वह अपूर्ण प्रक्रिया है और वह अपने को दूसरों के बीच भी व्यक्त करना चाहता है । यदि वह अपनी आंतरिकता को बचाए रखना चाहता है तो ऐसी भाषा से बचना होगा जो सीधे सीधे सच कह दे ।`[19] अशोक वाजपेयी की काव्य-भाषा अपनी आंतरिकता की अन्विती बचाए रखने के लिए ही भाषा को रूपकों केपाश में बांध लेती है, परन्तु उनसे जो अर्थ खुलता है बाद में, वह बहुत देर तक और दूर तक बजता रहता है । इन कविताओं को पढ़ कर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपमानों, प्रतीकों एवं बिम्बों की धर्मिता एवं तत्सम् पदावली की बहुलता के द्वारा कविता को चिन्तन केस्तर पर व्यक्त करना अशोक की रचना प्रक्रिया को और समृद्ध ही करता है --

> गरमाहट और राहत की एक अदृश्य पर अवश्यम्भावी
> दीपशिखा क्या वह
> इस क्षण सब कुछ को ढापे हुए
> जिसके पार वृक्ष और दृश्य झिलमिला रहे हैं
> वह कुहरा क्या तुम हो ?[20]

भाषा के प्रति इसी सजगता को देखते हुए मदन सोनी शायद यह कहते हैं - `अपने समकालीनों के बीच अशोक की कविताएं अकेली ऐसी कविताएं हैं, जिनमें भाषा की आवाज इतनी विविक्त एवं प्रभावी है ।`[21]

अशोक की भाषा अपने अनुभवों का सतत् विस्तार है, अनुभवों को शब्द दे सकने का एक माध्यम है । कविता की भाषा अनुभवों की ही भाषा पर टिकी होती है ।इसीलिए डा० नामवर सिंह कहते हैं - `किसी की भाषा शक्ति

उसकी बोध शक्ति का प्रमाण है । व्यक्ति का अपना भाषा संसार अनुभव का संसार है, इसीलिए अनुभव संसार के विस्तार के लिए भाषा संसार का प्रसार अनिवार्य शर्त है ।[22] अनुभवों से ही भाषा निर्मित होती है और वही भाषा काव्य रूप के विस्तार में प्रयासशील रहती है । अशोक वाजपेयी की कविता अपने आनुभाविक संवेदनों को भाषा के तर्क जाल में पिरोती है और उनसे अपनी कविता के संप्रेषण के लिए आधुनिक रचना संसार की तलाश करती है ।उसी तलाश को रूपकों और प्रतीकों का यह अद्भुत आश्चर्य लोक एक रहस्यमय संदूक से निकाल कर सार्थक बनाता है । लय एवं आंतरिक संगीतात्मकता से निर्मित अशोक की यह काव्य भाषा एक बड़े रहस्य को परत-दर-परत खोलती है । यहां पर यह भी कहना आवश्यक होगा कि अपने अनुभव संसार के ठीक ढंग से उद्भासित न होने के बावजूद भी ये कविताएं एक `विशेष अर्थ संदर्भ ` को व्यंजित कर देती हैं और भाषा की पारदर्शिता को संभव बनाती हैं । `विशेष अर्थ संदर्भ ` का आशय यह है कि शब्द एक साथ कई प्रकार के अर्थ से अभिप्राणित होते रहते हैं । मलयाज ने सही कहा है कि `भाषा के अत्याधिक पारदर्शी होने की वजह से उसके आर-पार किसी भी शब्द का बिलकुल सही अर्थ देखा जा सकता है और तब किसी प्रकार के भ्रम अथवा कल्पना की गुंजाइश भी नहीं बनती है ।[23] अशोक वाजपेयी की भाषा में जो शब्द आते हैं, वे निपट असाधारण, रहस्यमय तथा नवीन कविता संसार से परिचित पाठक के लिए बिलकुल अपरिचित से जान पड़ते हैं, पर कवि की यही विशिष्टता है कि इनसे एक अछूता अर्थ संदभ रच कर पाठकों को जहां चमत्कृत कर देता है -

मैं उठता हूं
तारों से भरा
सौभाग्य की तरह
दिपता दिगम्बर आकाश
शस्य श्यामल पृथ्वी ।[24]

देखा जाय तो इन कविताओं की भाषा अर्थ की सीमा को नहीं बांधती, बल्कि अर्थ की अनेक छायाएं और संभावनाएं उनसे प्रसार पाती हैं ।

एक अर्थ में ये कविताएं पाठक को उस बिन्दु तक खींच ले जाती हैं जहां से स्वत: अर्थ का स्फुटन होनेलगता है । अर्थ तब अज्ञेय नहीं रह जाता है, वह अपनी पूरी संवेदना के साथ शब्द के पीछे धड़कता रहता है । कविता के प्राणवान और वेगवान हो सकने की पूरी प्रक्रिया के मूल में अर्थ का यही विधान कार्य करता है ।

कविता की यह भाषा लाक्षणिकता एवं चित्रमयता के विभिन्न स्तरों से संपृक्त हैं । अशोक वाजपेयी कविता में चित्र खींच देते हैं शमशेर की तरह । लाक्षणिकता छायावादी कवियों की एक प्रमुख विशेषता थी और कहने की आवश्यकता नहीं कि अशोक यह परम्परा वहीं से ग्रहण करते हैं । अभिधा एवं व्यंजना को गौण करके वे कई बार लक्षणा में ही कविता का विधान संभव करते हैं । वैसे भी लाक्षणिकता का विधान कविता के लिए माना गया है । आचार्य शुक्ल ने तो `चिन्तामणि` संग्रह में लिखा ही है -`कि लाक्षणिकता के सम्यक् एवं स्वाभाविक विकास के द्वारा भाषा भाव क्षेत्र एवं विचार क्षेत्र दोनों में बहुत दूर तक, बहुत ऊंचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक सकती है ।[25] स्पष्ट है कि शुक्ल जी भाषा की प्रभावोत्पादकता के लिए लाक्षणिकता के विधान को काव्य की अनिवार्य शर्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

अगर तुम मिल जाते
तो पलाश के वृंत को कुतरता तोता
लगा ही लेता आग हरे में
लुप्तप्राय शब्द को मिल ही जाता कवि का घर ।[26]

इस काव्य भाषा में तत्सम् पदावली का भरपूर समायोजन है । छायावादी कविता और समकालीन कविता में अज्ञेय को छोड़ कर इतनी प्रचुर मात्रा में तत्सम् शब्दों का इतना विशाल भण्डार अशोक की कविता में प्राप्त होता है । नई कविता के दौर में छायावादी भावना के काव्य-बोध को खारिज कर एक नए ढंग की भाषा का विकास हिन्दी कविता कर्म में उपस्थित होता है । पहली बार सामान्य बोलचाल की भाषा कविता-संसार में प्रतिष्ठित हुई ।

कविता के उस दौर में जहां तत्सम् शब्दों के प्रयोग के आग्रह को एक कोने में फेंकते हुए उसे सीमाबद्ध रखने का प्रयास किया जा रहा था, वहीं अशोक अपनी कविता में तत्सम् सामासिक पदावली का प्रयोग करते हुए लगभग समकालीन कविता के इस प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह करते हुए प्रतीत होते हैं, भाषा के स्तर पर, भाव के स्तर पर और कथ्य के स्तर पर भी । अनायास नहीं है कि अशोक `अगर इतने से `कविता संग्रह की भूमिका में यह पंक्ति जोड़ देते हैं - `तद्भव के समकालीन आतंक के बरअक्स तत्सम् की विनम्र उपस्थिति`। वहीं मदन सोनी का अशोक के इस तत्सम् बोध की आसक्ति का कहना है - `कि कमलेश जैसे एकमात्र अपवाद को छोड़ दें तो उनकी एवं उनके बाद की पीढ़ी का शायद ही कोई कवि ऐसा हो, जिसने छायावाद के बाद काव्य भाषा की तत्सम् ध्वनियों का इतना मुक्त एवं प्रबल प्रयोग किया हो ।`[27] तत्सम् पदावली का विधान उनके यहां शायद इसलिए है कि उनकी कविता के मूल में रति की सार्वदेशिकता और इस नश्वर जगत में नश्वर देह का उत्सव मनाने का बोध है । यद्यपि तत्सम् पदावली की यह व्यवस्था तद्भव शब्दों से बहुत अलग नहीं है, यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो इन्हीं तत्सम् शब्दों के पीछे से तद्भव शब्द व्यंजित होते रहते हैं --

आभा में लिपटी उसकी तन्वंगी देह
खोलती द्वार किसी नीलाभ गगन का
नक्षत्रों के वृक्ष तले
बैठी है वह
मद भरालसा, मालविका
चन्दरिमा ।[28]

मदन सोनी तत्सम् एवं तद्भव की इस अनोखी जुगलबंदी पर कहते हैं -- `यह तत्सम् को चरितार्थ करने की, तत्सम् की शर्तों पर तद्भव को पाने की आकांक्षा भी है और तकनीक भी ।`[29]

तत्सम् शब्दों से युक्त इस भाषा के कारण अशोक की रचना प्रक्रिया

काफी संयमित भी लाती है और जटिल भाव-बोध की भी । नीलाकाश में अकेली, वह दिगम्बरा आकाश की शैया पर, उसकी आवाज अलसाई हुई है आम्रमंजरियों सी, शरद के आकाश में एक अर्द्धचन्द्र, फूलों की तरह उसके हाथ ओस भीगे एवं शांत निश्चल आकाश, देह के चंद्रोदय में ओस का भींगना आदि प्राकृतिक उपकरणों की सहायता से अशोक अपनी कविताओं की भाषा गढ़ते हैं, उसे प्रांजल बनाकर संगीतात्मकता से जोड़ने का प्रयास में संलग्न रहते हैं ।

(ग) बिंब

`बिंब पदार्थ या चित्र केआंतरिक सत्य का प्रत्यक्षीकरण अर्थात् छाया है । यह चेतन स्मरण शक्ति है जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति में पूर्वानुभूति का पूर्ण अथवा आंशिक रूप प्रस्तुत करती है` ।[30] किसी प्रतीक अथवा पदार्थ के साम्य से निःसृत यह एक मानवीय उद्बोधन है, जो रचना को अर्थ के विराट् सत्य से जोड़ता है - डा० केदारनाथ सिंह बिंब की परिभाषा यह देते हैं - `बिम्ब वह शब्द-चित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है` ।[31]

मूलतः बिम्ब कविता की मूल अंतरंग चेतना है, जो उसे खोलती,सजाती एवं प्राणवान बनाती है । यह चित्रण, प्रतिछाया का ऐसा चित्र है जो मानसिक प्रतिरूप की चाक्षुष्ण प्रतिमूर्ति बनकर अर्थ के गोपन सन्नाटे को भेदता है । `यही बिम्ब भाव को ग्राह्य अथवा सम्प्रेष्य बनाता है । उसकी सबसे बड़ी सफलता काव्य की मौलिक अनुभूति को तीव्र से तीव्रतर करने में है । यह केवल किसी अनुभूति को प्रतिबिम्बित नहीं करता, उसे एक स्तर पर पुनर्निर्मित भी करता है ।`[32]

कविता की रचना प्रक्रिया परिवेश, अनुभूति, संवेदना तथा वर्तमान के सूत्रों को समेटती हुई आगे बढ़ती है । कवि के मानस में अतीत की गूंज के

के अलावा रूपहीन तथा अघटित स्थितियों की असंख्य प्रतिमायें भी बनती रहती हैं । बिम्ब उन्हीं प्रतिमानों का पयाय अथवा सादृश्य होता है । अनुभव के व्यापक संसार से कवि अनुभव के आधार पर चयन करता है, उनका अर्थ पूर्ण संगठन करता है और उसे भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है ।

अशोक वाजपेयी एक बिंबधर्मी कवि हैं । बिंबों के विभिन्न प्रकार उनकी कविता में जस-तस तैरते हुए दिख जाते हैं । जल बिंब, दृश्य बिंब, गंध बिंब, ध्वनि बिंब आदि सभी प्रकार के बिंबों के समावेश से उनकी कविता तैयार होती है । कुछ ऐसे भी बिंब उनकी कविता में देखने को मिल जायेंगे जो कब बिंब का रूप धारण कर लेते हैं, यह कहना मुश्किल हो जाता है । वास्तव में अशोक वाजपेयी की कविता में बिंबों की प्रस्तुति जीवन के निराशा भरे सन्नाटे को भेद कर आशा की एक किरण का संचार उसमें कर जाती है, जिससे यही अर्थ बाद में बचता है कि जीवन को अभी भी सुंदर होना चाहिए । यही कारण है कि ये बिंब दूर तक जाते हैं और अपनी भाव-संपदा को द्विगुणित कर लेआते हैं --

जब तुम मेरी बाँहों में
साँझ रंग सी डूब जाती हो
और मैं जल बिम्बों सा उभर आता हूं
तब सिर्फ आँखें हैं
जो प्रतीक्षा करती हैं मेरे लौटने की ।[33]

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं में मूलत: देहवाद और प्रकृति के नयनाभिराम दृश्यों की उपस्थिति ही दर्ज है । इसीलिए इन कविताओं में दो प्रकार के बिम्ब पाये जाते हैं - प्राकृतिक स्थैतिक बिंब एवं आकस्मिक बिंब। `एक उसका स्थायी रंग साँझ है, जहां दूर गगन तक रंगों की स्वर्णिमिता व्याप्त होती है । दूसरे आकस्मिक बिंब हैं जो कब बिंब बने कहना कठिन है ।`[34]

अशोक वाजपेयी चूंकि ऐन्द्रिकता के कवि हैं अत: उनकी कविताओं में ऐन्द्रिक बिंब बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं । केदारनाथ सिंह ऐन्द्रियता को काव्य

की अनिवार्य शर्त मानते हैं । वैसे भी बिंब चूंकि कल्पना से उत्पन्न होते हैं और कल्पना सभी इंद्रियों से आद्यान्त रूप से जुड़ी होती है । अत: कल्पनाजन्य कविता ऐन्द्रिकता से सराबोर होती है । `तीव्र ऐन्द्रियता के ही कारण कवि जगत केविभिन्न रूपों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और उन्हें इस प्रकार देखता है, मानो वह उन रूपों का प्रथम सृष्टा हो`।[35] छायावादी कविता में इस प्रकार के बिंब खूब पाये जाते हैं । प्रसाद कामायनी में कहते हैं --

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग ।[36]

अशोक वाजपेयी के यहां अक्सर ही ऐन्द्रिय बिंबों के दर्शन होते रहते हैं, जो प्रेम की अभिव्यंजना में सदैव तत्पर से दिखते हैं --

मैंने उससे कहा
उससे नहीं
दोपहरकी सूनी डाली पर बैठी
पलाश के दहकते फूलों से घिरी नीली चिड़ियां से कहा ।[37]

इन कविताओं में अज्ञेय की ही तरह कवि की संवेदना जाने हुए को (अनुभवातीत) को एक परिचित बिंब की सहायता से `सैलीब्रेट` भर करती है, इसीलिए इन बिम्बों में कोई तनाव नहीं है, बल्कि एक उत्सव का भाव है । प्रेम एवं प्रकृति ऐसे भाव-तत्व हैं जो कल्पना से गहरे स्तर पर संपृक्त रहते हैं, अत: कवि कल्पनामूलक बिंबों की सहायता से इन्हें कविता में प्रस्तुत करता रहता है । ये कल्पनामूलक बिंब जब प्रकृति में जाते हैं तो प्राकृतिक स्थैतिक बिंबों में ढल कर और जब प्रेम में उतरते हैं तो रोमानी एवं ठोस यौन बिंबों की शक्ल में ।

प्रेम कविताओं में प्रयुक्त प्राकृतिक बिंब जहां नितान्त वैयक्तिक सौन्दर्यानुभूति को संप्रेषित करते हैं, वहीं कविताओं को प्रकृति के एक नाजुक डोर से बांधे रहते हैं । अकारण नहीं है कि इन प्राकृतिक बिंबों के में कवि नक्षत्र, सुरभि, अनंत और कुसुम की परिकल्पना करता है । इन प्राकृतिक बिंबों की सहजता के द्वारा वह समूची प्रकृति के साथ आन्तरिक स्तर पर अपना एक अभेद संबंध स्थापित कर लेता है । संग्रह की प्रथम ही कविता `प्रेम के रूपक` में यह प्राकृतिक बिंब परिलक्षित होता है --

मैं प्रस्तावित करता हूं
हरियाली पर पहली ओस
ऊंचे उड़ता और नीलिमा से एकाकार होता अंतिम पक्षी
पुनरुपि ज्वलंत सूर्य की लालिमा ।[38]

उपर्युक्त कविता में हरियाली पर पहली ओस, ज्वलंत सूर्य की लालिमा, कीड़ों की प्रार्थना, जड़ों की तरह सक्रिय शब्द आदि प्राकृतिक बिंब के सृजन में ही शामिल रहते हैं । इसी प्रकार `थोड़ी सी जगह` शीर्षक कविता भी संपूर्ण रूप से प्राकृतिक बिंबों से निर्मित कविता है । इस कविता में प्राकृतिक स्थैतिक बिंब, दृश्य बिंब आदि का भरपूर समावेश है । कवि का यह विशाल प्रयास देखिये - कि वह प्रेम के लिए थोड़ी सी जगह की तलाश आकाशगंगाओं के तुमुल कोलाहल के बीच, चट्टानों के बीच, अंतिम शब्द एवं मौन के बीच, नीले आकाश के रक्ताभ होने और हरसिंगार के फूल चुने की जगह करता है । यही थोड़ी सी जगह कवि के भीतर प्रेम के प्रति व्यग्रता और आकुलता को विश्राम देता है । इसी कविता में प्रकृति के मानवीकरण का दृश्य भी है । मेघ पृथ्वी की हरियाली के प्रति कामातुर होते हैं (कालिदास के मेघदूत को याद करने लायक है) । एक ही साथ प्राकृतिक एवं दृश्य बिंब दोनों का ही निर्माण कविता को अपूर्व रमणीयता प्रदान करता है । संग्रह में ऐसी बहुत सी कविताएं हैं, जिनमें प्राकृतिक बिंब अपनी पूरी सहजता से उत्पन्न होता है -

दिन भर की बारिश के बाद
दूर तक धूप में चमकता हरीतिमा का आश्वासन
बचा रहेगा ।[39]

प्राकृतिक स्थैतिक बिम्ब स्थिर रूप से उत्पन्न होने वाले बिम्ब हैं । ऐसी विभिन्न अवसरों पर जहां प्राकृतिक उपकरण स्थैतिक बिंब की संरचना में रूपान्तरित होते दिखते हैं, कवि ने इन कविताओं में समेटने का उद्यम किया है । प्राकृतिक स्थैतिक बिंबों के उदाहरण में - पानी में सोता हुआ चंद्र बिंदु, भोर का प्रच्छन्न आकाश, चट्टानों के नीचे कीड़े-मकोड़ों का संसार, ओस का हरीतिमा को चुपचाप छूना, नदी जल में पर्वत की स्वप्न छाया चंद्रमा द्वारा पुरानी बावड़ी के शांत जल में अपना प्रतिबिम्ब देखना आदि इस बिंब के विभिन्न उदाहरण हैं जो इन कविताओं में भरे पड़े हैं । अशोक की बिंबधर्मिता में एक विशेषता है, वह यह कि कोई बिंब कब अपनी खोल से निकल कर दूसरे बिंब का रूप ग्रहण कर लेता है, यह समझना मुश्किल हो जाता है । अर्थात् एक ही बिंब कब दृश्य बिम्ब हो जायेगा और कब प्राकृतिक स्थैतिक बिंबों में बदल जाता है, यह अनिश्चित है -

हवा में बसी फूलों वनस्पतियों की गंध
यहां से अदृश्य वृक्षों पर चमकती धूप
अपने असंख्य गानों के साथ सुनसान अंतरिक्ष ।[40]

हवा में बसी फूलों वनस्पतियों की गंध तथा अदृश्य वृक्षों पर चमकती धूप दृश्य बिंब का विधान करती है, वही सुनसान अंतरिक्ष, प्राकृतिक स्थैतिक बिंब को प्रदर्शित करता है ।

इन कविताओं में और भी विभिन्न प्रकार के बिंब प्रस्तुत किए गए हैं, जिसमें एक गंध बिंब भी है । गंध बिंब ऐन्द्रिय आस्वाद से युक्त बिंब होते हैं । कवि प्रकृति की सहज स्वाभाविक गंधों के प्रति अपनी तीव्र रागात्मक

Jawaharlal Nehru University LIBRARY

प्रतिक्रिया व्यक्त करता है । `थोड़ी सी जगह` कविता में हरसिंगार के फूल चुने के दृश्य में गंध बिंब का ही प्रयोग हुआ है । इसके अतिरिक्त मौलश्री के फूल सा निर्झर झरना, उसके शरीर की सुगंध, पलाश अमलतास में हंसी का कुसुमित होगना -

फूल जब फूल को समो लेगा
तो फिर ये फूल कहां झर पायेंगे ।[41]

उपर्युक्त पंक्तियों में गंध बिंब की जो तीव्रता है, वह कवि की घ्राण शक्ति का ही कौशल हैकि वह फूल, फल, वनस्पति या फिर देह की मादक गंध को बिंब का रूप देकर कविता के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर लेता है । अशोक की यह बिंबधर्मिता कविता के मनोभावों को एक नए रूप में ढालती है और यही महान् बिंबवादी कवि एजरा पाउंड की वह पंक्तियां याद आती हैं कि `जीवन भर बीस पुस्तकें लिखने से अधिक महत्वपूर्ण है एक सार्थक बिम्ब का निर्माण कर लेना ।` अशोक के कविताओं में बिंबों का जो एक मोहक तर्क जाल फैला हुआ है, वह कविता को एक आद्यांतिक सौन्दर्यबोध से संपृक्त तो करता ही है, साथ ही अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए एक ज़मीन भी मुहैया कराता है ।

TH-6887

बिंब पुराने ही हैं अशोक के यहां, पर उन्हीं बिंबों से नवीन प्रयोग कर एक अछूता अर्थ संदर्भ वे कविताओं में रचते हैं । अज्ञेय और शमशेर के यहां भी ऐसे नवीन बोध से बिंबों का प्रयोग बहुतायत से पाते जाते हैं ।

इन कविताओं का सबसे महत्वपूर्ण बिंब स्पर्श बिंब है । स्पर्श बिंब के बारे में डा० केदार नाथ सिंह लिखते हैं - `ऐन्द्रिय बोध का यह सबसे प्रत्यक्ष एवं स्थूल स्तर है` ।[42] अशोक वाजपेयी के इन स्पर्श बिंबों में प्राकृतिक उपकरणों की स्पर्श संवेदना का चित्रण कम है, पर देह के मांसल स्पर्श के चित्रों की प्रमुखता है । स्पर्श बिंब के इन चित्रों में कवि नारी-देह के बहाने समूचे जीवन की यात्रा कर आता है -

तुमने छुआ
सिर्फ मेरे होठों या हाथों भर को नहीं
तुमने छुआ
मेरे जन्म की अंधेरी कंदरा में
अकस्मात् छा गयी प्रभा को ।[43]

\+ +

मैंने उसे छुआ
जैसे आकाश को छुआ ।[44]

उपर्युक्त पंक्तियों में स्पर्श बिंब का जो अपूर्व प्रयोग है उसमें रोमानीपने के विभिन्न अवसरों के बावजूद शालीनता एवं सजगता है । इस संग्रह में बहुतसे ऐसे क्षण आये हैं जिनमें स्पर्श बिंब अपनी पूरी तत्परता से प्रकट होकर प्रेम के भाव को विशिष्ट रागात्मक संवेदनों से आभूषित करते चलते हैं । होठों पर होठों की परछाईयों का झुकना, प्रेम का उसे हल्के से छूना, पानी द्वारा त्वचा के उजास को छूना, बाहों में सांझ रंग सी डूब जाना, प्रिय स्पर्श से जागती हुई देह की दीप्ति आदि । अशोक की कविताओं में इस तरह के बिंब मांसल अनुभूतियों के अनुभवों को स्पर्श कर उन्हें सचेत कर देते हैं, इसी से कभी-कभी इन बिंबों के यौन-बिंबों में बदल जाने का खतरा होता है । कवि की ऐन्द्रिकता और रागात्मक सौन्दर्य बोध का एक नाजुक सा संतुलन ही इन कविताओं को इस आसन्न खतरे से बचा लेता है । अक्सर रति की सार्वदेशिकता की प्रगाढ़ता में ही ये बिंब तैयार होते हैं तथा मूर्त एवं अमूर्त दोनों रूपों उपस्थित होते हैं ।

इन कविताओं का एक अन्य महत्वपूर्ण बिंब है दृश्य बिंब । इस प्रकार के बिंबों के माध्यम से अशोक वाजपेयी अपनी कल्पनापरक अनुभूतियों को एक दृश्य में बांध देते हैं, जिससे घटनाओं का एक वृहदतर चित्र उपस्थित हो जाता है । कल्पना में व्याप्त भाव मूर्त होकर आकार ग्रहण कर लेते हैं और वे स्पष्ट होने लगते हैं । उदाहरणस्वरूप - चट्टानों को घेरे वनस्पतियां, गौरैया का फुदकना, गहरा नीला अंधेरा, धूप में झिलमिलाती ओस बूंद, पलाश के

फूलों के बीच नीली चिड़िया, बच्ची को छत से उगता सूरज एवं पड़ोस की बछिया देखना अच्छा लगना । दृश्य बिंबों की संभावना या प्रयोग इस काव्य में इसलिए भी है कि प्राकृतिक दृश्यों का समावेश अधिक है ।

> `सुबह का वक्त : उमस सी है और धूप में एक अप्रीतिकर
> चमक भी । वनस्पति का हरा रंग भी बेराहत लग रहा है । एक
> सुंदर सी पीली चिड़िया वहां घास पर फुदक रही है ठीक वैसे ही
> जैसे तुम हो सुंदर और नीरव ।`[45]

बिम्बों के विभिन्न स्तर एक साथ संपृक्त होकर कविताओं में एक अपूर्व रमणीयता की सृष्टि करते हैं । दृश्य बिंब में कहीं-कहीं यौन बिंबों का भी जुड़ाव हो उठा है । यद्यपि यह यौन बिम्ब उत्तेजित नहीं करते हैं, एक आत्म-संचित सौन्दर्य बोध की कल्पना को ही साकार करते हैं । एक कविता है `सद्य: स्नाता` --

> पानी उसे घेरता है -
> चूमता है
> पानी सकुचाता है
> लजाता गरमाता है
> पानी बावरा हो जाता है ।[46]

इस कविता में पानी के बिंब में मनुष्य की दैहिक कल्पना का अद्‌भुत समावेश है । जल को प्रेमी के रूप में देखा गया है । स्पर्श बिंब का स्वाद भी इस कविता में मिलता है ।

दृश्य बिंब के समानान्तर ही एक बिंब और है `चाक्षुष बिंब` जिसका प्रयोग भी इन कविताओं में कहीं-कहीं हुआ है । चाक्षुष बिंब एवं दृश्य बिंब में सिर्फ एक सूक्ष्म सा अंतर यह होता है कि जहां दृश्य बिंब एक चित्र उपस्थित कर उसे देखने का माध्यम बनाता है, वहीं चाक्षुष बिंब में सीधे सीधे देखने

का सम्प्रेषण होता है । चाक्षुष बिंबों के उदाहरण में बच्चों की किलक, ओंस से भीगी हरी पत्ती, दहकता गुलमोहर का फूल, पुरानी बावड़ी का जल आदि । संग्रह की एक कविता `जब हम प्यार करते हैं ` में इस बिंब का प्रयोग है--

जब हम प्यार करते हैं
तब यह नहीं कि आकाश अधिक दयालु हो जाता है
या कि सड़कों पर अधिक खुशी चलने लगती है
बस यही कि कहीं किसी बच्ची को
अपनी छत से उगता सूरज
और पड़ोस की बहिया देखना अच्छा लगने लगता है ।[47]

ध्वनि बिंबों की यद्यपि अधिक मात्रा अशोक वाजपेयी के इन कविताओं में प्रकट नहीं होती है, फिर भी कुछ स्थानों पर इनका अच्छा उपयोग है । ध्वनि बिंब काव्य का एक आवश्यक बिंब है । डा० केदारनाथ सिंह मानते हैं कि `ऐन्द्रिय संवेदना का सबसे सूक्ष्म स्तर ध्वनि है । ध्वनि शब्द का प्राणतत्व है, प्रत्येक शब्द जिस प्रकार किसी न किसी दृश्यचित्र का बोधक होता है,उसी प्रकार ध्वनि चित्र का भी`[48] । ध्वनि बिंबों के उदाहरण में - उसकी आवाज में बजते हैं अनंत के नूपुर, झींगुरों की अथक पुकार, छंद की तरह गूंजती उपस्थिति, उठने की घंटी बजाती घड़ी आदि । इन बिंबों में प्रकृति की जो उपस्थिति है, वह इनकी ध्वनि के माध्यम से ही उन्हें निर्जीव नहीं रहने देता, बल्कि उनमें भी जीवन के रस का संचार कर देता है --

जहां चीखते संगीत और शोरगुल के बीच
जयजयकार के तुमुल के बीच
उसकी आवाज सुन सकें ।[49]

कहीं-कहीं इन बिंबों की अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए चाक्षुष बिंबों की सहायता ली गयी है । एक उदाहरण --

नदियों / गिरिमालाओं / स्कूल जाती बच्ची

और अनाज बीनती स्त्रियों को लांघ कर
दोपहर को एक सुनसान में बदलती हुई
आती है उसकी आवाज ।[50]

इन कविताओं का सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रभावी बिंब यौन बिंब है । वास्तव मे इन कविताओं का मूल आशय देह के सौन्दर्य बोध का बखान और रति की व्यापकता का प्रदर्शन है । यौन बिंब उन बिंबों को कहते हैं, जिनमें देह की मादकता प्रदर्शित हो अथवा जिनमें देह को प्राप्त करने की आकुलता विद्यमान हो । यहां यौन बिंबों का प्रयोग अतिशय है, वह लगभग हर कविता में मौजूद है । पर आश्चर्यजनक रूप से यौन के इन चित्रों में कुंठा, निराशा एवं अवसाद का स्वर नहीं है, बल्कि देह एवं रति के माध्यम से जीवन के उत्सव की परिकल्पना का भाव है । ये बिंब इन कविताओं में मुक्त लिबिडो की स्थापना करते हैं । मूलत: यौन बिंब कोई बिलकुल ही भिन्न किस्म के विशिष्ट एवं अकेले बिंब नहीं होते हैं । उनका निर्माण दृश्य, गंध, स्पर्श आदि सभी प्रकार के बिंबों की सहायता से ही होता है --

सब कुछ को आलिंगन में घेर कर
पीठ पर रुके हुए हाथ
केलि करते हाथ से
किसी जागे उतप्त को छूते न छूते
अपनी ही छटा में संपुष्ट उरोज
छुई जाकर भी अनछुई - अनदेखी काली घासें ।[51]

उपर्युक्त कविता में यौन बिंबों का ही समावेश है, पर कहीं से भी यह कोई कुंठा का प्रदर्शन नहीं करते हैं, बल्कि जीवन की स्वाभाविक लय और क्रिया को ही गति देते हुए प्रदर्शित होते हैं । अन्य कविताओं में भी इनका प्रयोग है - गफिन झाड़ी से ढंका, उदग्र पुष्प, विकल अंधेरा, केलि के बाद अलसाई हुई थोड़ी सी जगह, केलि का अर्द्ध चंद्र, काली घासें, ढीठ कुसुम,

रस लालित्य से भरी जंघाएं आदि । कई स्थानों पर यौन बिंबों के प्रदर्शन के लिए अथवा उसके खुलासे के लिए दृश्य बिंबों का प्रयोग किया गया है - सूर्य, चन्द्रमा को दो तकिये संभालना, घास के कपड़े हटाना । एक कविता में तो पत्थर के मानवीकरण द्वारा यौन बिंबों के उत्तेजित संभोगरत दृश्य की कल्पना है --

पत्थर उठाता है भुजायें
पत्थर तोड़ता है जंघाएं
पत्थर कुसुमित होता है उरोज में
पत्थर कांपता है
पत्थर पसीजता है
पत्थर धार-धार बहता है ।[52]

कुछ अक्षरों पर प्रेम के इस समारोह में प्राकृतिक स्थैतिक बिंब और यौन बिम्बों की मदद से प्रकृति को प्रेम में आत्मसात करने का प्रयास है - जैसे दो देहों के बीच आकाश, दो चेहरों के बीच नदी, दो होठों के बीच कुसुम। कभी कभी इन बिंबों में ऐन्द्रिय अनुभव भी मिश्रित हो उठते हैं, विशेषकर उपमामूलक विशेषणों के संदर्भ में --

सोचती है
यौवन जल है अंजलि का ।[53]

अशोक वाजपेयी इन कविताओं में बिंबों का एक रंगारंग संसार रचते हैं और ऐसी कल्पनाओं के उद्यान से गुजरते हैं जहां अमूर्तता भी मूर्तता में परिणत हो उठती है । कवि की कल्पना मनोरम है और इसी मनोरमता में जब रागात्मक अनुभव जुड़ जाते हैं तो ये बिंब अपने आकार से और अधिक खुल जाते हैं । सूक्ष्म अनुभवों की रागात्मक अभिव्यक्ति कविता को प्रेम की कल्पना से जोड़ कर उसे गहरी भावात्मकता प्रदान करता है । इसी समीकरण का ही यह परिणाम है कि इन बिंबों में सुखद प्रेम-प्रक्रिया अपनी समग्रता में उपस्थित होती है ।

(घ) प्रतीक

बिम्ब एवं प्रतीक कविता की सजावट की अपेक्षा उसकी बनावट के महत्वपूर्ण उपादान हैं और दोनों में कभी-कभी अंतर करना कठिन हो जाता है, वैसे प्रतीकों की काव्यात्मकता तब अधिक सार्थक होती है, जब प्रतीक बिंब जैसी मांसलता, अमूर्तता एवं ऐन्द्रियकता लिए हुए होते हैं । मूलत: बिंब जहां भावावेश से जुड़े होते हैं, वहीं प्रतीकों के मूल में बौद्धिक प्रक्रिया ही अधिक होती है ।

प्रतीक काव्य-संप्रेषण का वह उपकरण होता है, जो काव्य को कथ्यात्मक अर्थ प्रदान करने के लिए तुलनात्मक संयोग विधि अपनाता है । प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर वस्तु) के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) का विधान कर उसके साहचर्य का कारण बनती है । वास्तव में `प्रत्येक प्रतीक अपने मूल रूप में बिंब होता है और उस मौलिक रूप से क्रमश: विकसित होकर प्रतीक बन जाता है । उसी प्रकार प्रत्येक बिंब अपने प्रभाव में जितना ऐन्द्रिय एवं संवेगात्मक होता हो, अंतत: उसकी परिणति किसी प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना में ही अधिक होती है ।[54]

अशोक वाजपेयी की प्रेम कविताओं के प्रतीक चित्र-विधान में उपस्थित होते हैं । भावात्मक अनुभूति के लिए कवि भाषा में दो तत्वों का मिश्रण कर लेता है - चित्र एवं संगीत । कवि की संगीतबद्ध भाषा एक अपूर्व लयबद्धता के साथ दृश्य में सीधे-सीधे प्रविष्ट हो जाती है । जिस प्रकार के चित्र इन कविताओं में सृजित होते हैं, उसमें स्केचिंग (रेखांकन) का बड़ा महत्व है । भाव-संवेदनों की समूची विषयवस्तु को यह चित्र आकार ही देता है --

दरवाजे पर दस्तक दे रहा तारा पहुंचा देता
पृथ्वी के पास उसके लिए
लाया गया प्रेम पत्र ।[55]

+ +

प्रार्थना के शब्द की तरह अस्फुट
पीपल में अकस्मात् खिल आई
किसलय की तरह रक्ताभ
अदृश्य देवताओं के अनुरक्त नेत्रों से दूर ।[56]

नदी, दरवाजे पर दस्तक दे रहे तारे द्वारा प्रेम पत्र पहुंचाने की बात, तथा नदी तट का राग के उजाले में लौट जाने के दृश्य कविता से इस गहराई से जुड़े हैं कि कविता पढ़ते ही सारा दृश्य विधान आंखों के आगे घटित होने लगता है । इसी प्रकार सूर्योदय के आकाश पर, प्रार्थना के शब्द की तरह अस्फुट चित्र सौन्दर्य को जीवित सृष्टिगत गरिमा का संस्कार भी देते हैं । दृश्यचित्र के इसी अभिलेख का रेखांकन कविता की पहली शर्त है ।

अशोक वाजपेयी की रंग-चेतना (कलर कॉन्ससनेस) बहुत प्रखर है । यदि अज्ञेय एवं मुक्तिबोध तथा शमशेर को छोड़ दें तो किसी अन्य समकालीन कवि के यहां रंग-चेतन का इतना विशद् एवं विकसित चित्र नहीं प्राप्त होता है । चूंकि ये कविताएं प्रकृति के रागात्मक अनुभूतियों में निरन्तर स्पन्दित होती रहती हैं, अत: इनमें रंग-प्रयोग आवश्यक एवं विशिष्ट जरूरत के रूप में उपस्थित होती है । रंग चेतना का एक कारण कवि की आत्मिक ऐन्द्रियकता का खुलते जाना भी है । लाल, पीले, हरे, नीले, काले, बासन्ती आदि रंगों के प्रतीक इन कविताओं में मिलते हैं । इन रंगीन प्रतीकों द्वारा अशोक कविता को चटकीला एवं आकर्षक बना कर प्रेम के सुखद आत्मीय क्षणों को बेहतर तरीके से समायोजित तो कर लेते हैं, परन्तु इस `रंगिनी` में जीवन की त्रासदियों को उभार कर उन्हें महसूसने की शक्ति लगभग क्षीण है -

हरे को दीप्त करता है बसंती
बसंती को दुलराकर थामे हैहरा ।

- हर रचनाकार के प्रतीकार्थ उसकी जीवन दृष्टि के समकक्ष चलते हैं । अशोक जैसा सौन्दर्यवादी कवि प्राकृतिक प्रतीकों (नेचुरल सिम्बल) का निर्माण अपनी सौन्दर्य दृष्टि के पोषण और अभिव्यंजना से प्रेरित होकर

करता है । इसीलिए ये प्रतीक कवि के अनुभव संसार से यात्रा करते हुए कविता तक पहुंचते हैं और जीवन एवं प्रकृति की राग-संपदा के सौन्दर्य बोध से आह्लादित होते रहते हैं । । अक्सर इनमें नारी देह के सौन्दर्य का उजास (अशोक की ही भाषा में कहें तो) एवं रति का साक्षात अनुभव प्राकृतिक प्रतीकों से संपृक्त होता रहता है ।

अज्ञेय ऐसे कवि हैं, जिनसे अशोक की कविता का स्वभाव बहुत हद तक न भी हो, तब भी जुड़ा रहता है । प्रतीकों को अज्ञेय सत्यान्वेषण का कारण मानते हैं । उनका कहना है कि 'जीवन स्वप्नों एवं आकारों का एक रंगीन विस्मय भरा पुंज है । हम चाहें तो उस रूप में भी उलझे रह सकते हैं । परन्तु रूप का यह आकर्षण ही वास्तव में जीवन के प्रति हमारी आकर्षकता का प्रतिबिम्ब है । जीवन को सीधे सीधे न देख कर हम एक कांच में से उसे देखते रहते हैं ।'[57] अशोक की इन कविताओं में भी कुछ ऐसी ही प्रक्रिया से गुजरना होता है । यहां भी जीवन है, पर अलग से उपस्थित नहीं है, बल्कि कभी कभी तो वह प्रेम, प्रकृति एवं रति में इतना गड्डमड्ड हो जाता है, उस को ढूंढना असंभव न हो, कठिन तो हो ही जाता है । कहना होगा कि ये प्रतीक जीवन से सीधे-सीधे नहीं टकराते हैं, बल्कि उसे कांच से देखते हैं । यही कारण है कि इन कविताओं में जो प्रेम अवतरित होता है, वह सधे हुए विन्यासता का प्रेम है । प्रेम के रागात्मक संसार से मानवीय विषमता की संवेदना में जब कवि उतरता है तो तल्ख सच्चाईयों से टकराता है, परन्तु यह उतरना कम ही होता है --

> सुबह होगी लगभग इतने ही समय
> अंधेरे पर उजास औरधूप
> फिर दुख आयेगा / दिनभर साथ रहेगा
> नाश्ते की मेज पर / दफ्तर के कागजों के साथ ।[58]

उपर्युक्त कविताएं यह प्रदर्शित करती हैं कि प्रेम में निराशा एवं दुख का बोध ही इन कविताओं को एक तीव्र संवेदनात्मक प्रक्रिया से जोड़ता है ।

अशोक ने अपने अधिकांश प्रतीक या तो प्रकृति के अभरण्य से प्राप्त किए हैं या देह के सौन्दर्य की भंगिमाओं से । ज्वलंत सूर्य की तरह लालिमा, जड़ों की तरह सक्रिय शब्द, गर्भिन पड़े, ढीठ कुसुम, पंक्तियों में बदल गए पूर्वज, गरम रोटी और दूध की तरह प्रेम, पवित्रता बच्चे को अबोध प्रार्थना सी आदि। इन प्रतीकों में आदिम-राग की आवृत्ति चाहे न हो, परन्तु ऐन्द्रिकता एवं राग-बोध की धूप अवश्य है । यही कारण है कि जैसी प्रेम की अभिव्यंजना से कवि गुजरता है, उसके लिए ये प्रतीक एक उत्प्रेरक (केटालिस्ट) का कार्य करते हैं ।

अनंत, ग्रह, नक्षत्र, देवता, सूर्य आदि अंतरिक्षी शब्दों के माध्यम से ही अशोक प्रेम को दिगम्बरता के सांचे में फिट करते हैं । वास्तव में इन प्रतीकों के कविता में लाने का उद्देश्य प्रेम को उसकी ज़मीनी सीमा से भी आगे ले जाकर उसे एक और दुनिया में प्रविष्ट करा देना है ।

कुछ प्रतीकों द्वारा नारी देह की तन्वंगी छाया की अभिव्यक्ति एवं रति के विभिन्न उपकरणों का भी विधान रचा गया है ।

> वह शिखा थी
> उसकी पूरी देह दीपक थी
> प्रेम में जलती हुई दिगम्बरता ।[59]

प्रिय समागम के लिए विरह में तड़पती नायिका को दीपक के प्रतीक से व्यक्त करना एक क्षण में रीतिकालीन कविता के आस्वाद जैसा ही प्रतीत होता है, पर अगले ही क्षण वहएक नये सौन्दर्य बोध के साथ पुनः अपनी दुनिया में आता है, पहले से अधिक उत्सुकता लेकर ।

प्रेम के विभिन्न रूप इन प्रतीकों के माध्यम से कविता में प्रस्तुत किये गये हैं, जो प्रतीक अशोक के यहां मिलते हैं, उनमें एक विशेष प्रकार की ध्व रागात्मक तीव्रता का स्पंदन होता है, विशेषकर प्रेम के लिए अरागात्मक होते जाते इस समय में । विपर्यस्त प्रतीकों को कविता के कन्धों पर लाद कर अशोक उस प्रेम की सर्जना को संभव बनाते हैं जो हमीं से उपजा है और

हमीं तक है । ये प्रतीक सिर्फ प्रेम के वैभव लोक की ही सृष्टि नहीं करते हैं, उनमें व्याकुलता और अपनी पीड़ा से दो-चार होने की कसकती अनुभूतियां भी रचते हैं, जो कभी कभी इस स्वप्नलोक को बहाकर वास्तविक जीवन के दु:ख बोधों तक पहुंचा देता है —

फिर भी हम प्यार कर रहे हैं
समय के चूहे कुतर गये हैं
ढांकने के लिए मिली छोटी सी चादर
पीठ पर रेंगती हैं स्मृति की लाल चींटियां । [60]

प्रेम को छिपकली की व्यंजना देकर कविता को भयावहता से मुक्ति देकर पीड़ा बोध के एक मार्मिक संसार की बुनियाद तय करने का ही उपक्रम है ।

ये प्रतीक जहां जीवन एवं प्रेम की जुगल बंदी की रागात्मकता को उपस्थित करते हैं, वहीं मृत्यु की असीम शान्ति की भी सृष्टि इनके द्वारा हुयी है । प्रेम की ही तरह मृत्यु भी अशोक की कविताओं की एक प्रमुख `थीम` है, अनायास नहीं है कि प्रेम के बराबर ही मृत्यु पर भी कविताएं उनके यहां प्राप्त होती हैं । मृत्यु विषयक प्रतीकों में अक्सर ही कवि स्वप्न-चेतना से आक्रान्त रहता है—

तुझे आवाज दूंगा
काले भारी भय की तरह स्तब्ध होगी पृथ्वी
और मृत्यु की तरह निष्पंद पड़ा होगा आकाश । [61]

अशोक वाजपेयी की इन कविताओं में यौन प्रतीकों के भी माध्यम से रति के प्रतिरूपों का निदर्शन हुआ है । परन्तु ये प्रतीक प्रकृति से ही लिए गये हैं और उन्हें यौन भावना की समष्टिगता केलिए कवि ने प्रयोग कर लिया है । कविताओं की प्रतीक सृष्टि का मूल और मुख्य स्रोत प्रकृति

ही है । दूसरे प्रकृति के क्रियाव्यापार जीवन के मुख्य व्यापार के अत्यंत निकट रहे हैं, अत: उनसे पूर्व परिचित होने के कारण वे पाठक के लिए सहज रूप में ग्राह्य हैं । ये प्रतीक प्राकृतिक प्रतीकों के अर्थ की भी सृष्टि करते हैं और यौन भावनाओं के सपुंजन के लिए भी तैयार रहते हैं -

रात जो उसे खोलेगी
आकाश की तरह अनंत
धरती की तरह उत्सुक
रात जो बनेगी
उस पर झुका एक दिगम्बर पुरुष
रात जो उसे काली घासों की तरह ढंक लेगी । [62]

इसके अतिरिक्त फूल के भी विभिन्न पर्यायवाची कुसुम, पुष्प आदि को भी कवि यौन प्रतीकार्थ के रूप में प्रयुक्त कर लेता है । गर्भिन झाड़ी, तृप्ति की देहरी, ढीठ कुसुम, गहरा नीला अंधेरा आदि विभिन्न ऐसे तत्व यौन प्रतीकों के रूप में आये हैं जिनके माध्यम से कवि जीवन में रति के महत्व को व्याख्यायित करता है ।

अशोक के प्रतीक विधान समृद्ध और जीवनानुभवों से आद्यान्त जुड़े हैं । ये प्रतीक जहां एक ओर प्रकृति को प्रेम में जीवित रखते हैं, वहीं रति और तन्वंगी स्त्री देह की भी महिमा के बखान में रत होते हैं ।

(ङ) अप्रस्तुत विधान

साधारणतया अप्रस्तुत का अर्थ उपमानों के ही संदर्भ में लिया जाता है । साहित्य के आधुनिक विमर्श में जहां उपमेय को प्रस्तुत के अर्थ में संदर्भित किया जाता है, वहीं उपमान के स्थान पर अप्रस्तुत का प्रयोग होता है । उपमान शब्द अपने आप में जिस व्यापक अर्थ को अभिव्यंजित करता है,

अप्रस्तुत से कहीं अधिक व्यापक अर्थ के प्रतीति की संभावना व्यक्त होती है। हिन्दी साहित्य कोश में रामदहिन मिश्र लिखते हैं -`अप्रस्तुत योजना में बाहर से लायी जाने वाली सारी वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है। चाहे अप्रस्तुत विशेष्य हो या विशेषण, क्रिया हों अथवा मुहावरे, सब इसके भीतर समा जाते हैं। अप्रस्तुत योजना सेप्रकृष्ट रूप में संयोजित कविता, पाठक स्वं श्रोता को काव्यानंद प्रदान करने में समर्थ होती है।`[63]

वास्तव में प्रस्तुत को संप्रेषित करने के लिए अप्रस्तुत का प्रयोग स्मरण करना भाषा का ही एक अंग है। इसलिए उपमा को भाषा का सहज अलंकार कहा जाता है। उपमानों का मूलाधार साम्य होने के कारण ये सादृश्य, साधर्म्य एवं प्रभाव साम्य पर आधारित होते हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है कि - हमारे यहां साम्य मुख्यत: तीन प्रकार का होता है - सादृश्य (रूप अथवा आकार का साम्य), साधर्म्य (गुण अथवा क्रिया का साम्य) और केवल शब्द साम्य (दो भिन्न वस्तुओं का एक ही नाम होना)`।[64]

आधुनिक काव्य में अज्ञेय ने मूर्त, अमूर्त उपमानों की एक पूरी परम्परा को पुनर्सृजित किया। इस घोषणा के साथ कि `ये उपमान मैले हो गये हैं`, अज्ञेय ने पुराने बासी पड़ गये उपमानों को खारिज कर कुछ ताजे टटके उपमानों की संरचना का आग्रह किया। अशोक वाजपेयी का जो प्रेम निवेदन है और प्रेम को एक व्यापक कैनवास में ढाल देने का कौशल है, उसमें प्रेमिका को नवाजी गयी उपमानों की शृंखला उसे प्रेम की पर्यत्सुक्ता प्रदान करती है और एक अनंत सुख की तलाश में उसे सक्रिय बनाती है। सूर्य, चंद्रमा, धरती, बारिश, हरियाली, घास का बिछौना आदि विभिन्न प्रकार के उपमानों से कवि एक अनूठी स्त्री देह का आविष्कार करता है। यद्यपि कभी कभी यह उपमानीय व्यवस्था व्यवस्था कुछ अतिरेकपूर्ण हो जाती है और सबसे बड़ा नुक्सान इसका यह होता है कि प्रेम और प्रेमिका दोनों ही अपनी सहजता से बहुत दूर चले जाते हैं।

इन उपमानों के आलोक में छिपी स्त्री देह के जिस वैभव का बखान अशोक वाजपेयी करते हैं, वह छायावादी काव्य उपमानों से बहुत अलग नहीं है और न ही वह रूढ़ अर्थों में किसी संवेदना लोक की सृष्टि कर पाती है। परन्तु यह कहना आवश्यक होगा कि अपने परिवेश और अपने अनुभवों को इन कविताओं में संपृक्त करते हुए इन उपमानों को अलग अर्थों का आकार दे सकने का प्रयास ये कविताएं अवश्य करती हैं। मूलत: प्रेम की संरचना में विरचित इस उपमान मालाओं का प्रथम और अंतिम आश्रय स्थल देह ही है। यह अलग है कि वहां तक पहुंचने के लिए तत्सम् पदावली के शब्दों से ही गुजर कर पहुंचना पड़ता है। सुधीश पचौरी का कहना है कि `इस बहुत बहुत देह में देह ही प्रेम का प्रथम और अंतिम आश्रय स्थल है। अपनी तमाम आनंदवादी उपमान वाली के बावजूद प्रेमी के लिए देह ही अंतिम अंतिमेत्थम है।[65]

इन उपमानों में प्रकृति का विशाल समन्वय है। यह कहना गलत नहीं होगा कि ये सारे उपमान प्रकृति से ही नि:सृत हैं। अलसाई हुई आम्र मंजरियों सी आवाज, आकाश, कुसुम, पेड़, नक्षत्र आदि विभिन्न प्राकृतिक उपकरणों का प्रयोग नायिका की छवि के लिए प्रस्तुत किया गया है। कुछ अप्रस्तुत इसी कारण विशिष्ट बन पड़े हैं एवं उसमें नवीन ताजगी का अहसास होता है। जैसे - हाथ के लिए आकाश, समृद्धता के लिए पृथ्वी, उज्ज्वलता के लिए अग्नि, सर्वत्रता के लिए वायु का प्रयोग इन अप्रस्तुतों को साफ-साफ अर्थों में प्रस्तुत कर देता है और कविता अपने अतीत में अपना राग ढूंढ़ने लगती है।

अशोक वाजपेयी की कविता में प्रयुक्त उपमानों की यह विशेषता ही है कि इनसे एक ही साथ परिवेश एवं पार्श्व दोनों ही ध्वनित होते रहते हैं। कविता के ये विशिष्ट अप्रस्तुत विधान कविता के विन्यास को साफ-साफ दृष्टि देकर उन्हें अधिक सम्प्रेषणीय बनाती है। उदाहरण स्वरूप, जब प्रेम के लिए जगह का निर्माण करने की प्रक्रिया में तारों को बुहार कर अलग कर देता है, देवताओं को ठेल देता है, कभी पक्षियों से कहता है

कि वे थोड़ा आकाश छोड़ दें (प्रेम के लिए जगह दो) सूर्य चंद्रमा को एक तरफ रख देता है, पृथ्वी को झाड़ता पोंछता है और आकाश की तहें ठीक करता है (प्रेम के लिए जगह - एक) । इन अप्रस्तुतों में स्पष्ट रूप से चीजें विन्यस्त क्रम से दिखती हैं । ब्रह्मांड, नक्षत्र एवं अंतरिक्ष को अप्रस्तुतों के लिए जब कवि प्रयोग करता है तब इनको एक तरह की घरेलू आत्मीयता प्रदान कर देता है और तब वह हमारे आश्चर्य की सीमा में ही कैद नहीं रहती, बल्कि बहुत आगे बढ़ कर हमारे आसपास की समीपता में स्थिर हो जाती है । सामीप्य भी ऐसा कि चाहें तो उनसे गप्प लगा लें, चाहें तो उन्हें छू लें और चाहें तो हथेलियों में कैद करके रख लें । प्राकृतिक तत्वों की घरेलू उपस्थिति ही इन अप्रस्तुतों की सबसे बड़ी विशेषता है --

> मैंने उसे छुआ
> जैसे आकाश को छुआ
> जैसे उसके एक नक्षत्र को
> उसकी अंगुली में अंगूठी की तरह पहना दिया ।[66]

यह कवि के व्यापक ऐन्द्रिय बोध का ही कमाल है कि वह परिचित किन्तु विशिष्ट अप्रस्तुत के माध्यम से सारे के सारे गोपन को सामने फैला कर बांचने लगता है ।इस गोपन (अमूर्त) के मूर्त होते रहने की प्रक्रिया में प्रेम और देह प्रकृति के ही एक तत्व के रूप में बदलते रहते हैं और अर्थ के जटिलतर ढांचों को तोड़ कर संप्रेष्य हो उठते हैं ।

अशोक के अप्रस्तुत विधान के निर्माण में कवि की सौन्दर्य दृष्टि और उसकी कल्पनाप्रियता का सही और नाजुक संतुलन है और हैरानी की ही यह बात है कि यह संतुलन कहीं से भी स्खलित होता नहीं दीखता है । वह पूरी पृथ्वी को देह और प्रेम के बहाने समीप ले आता है और बिखेर कर चला जाता है ।

(च) छंद और लय

अशोक वाजपेयी की कविताएं मुक्त छंद में लिखी गयी हैं, जिनकी अपनी विशिष्टताएं हैं । अशोक जिस मुक्त छंद का विधान अपनी कविताओं में करते हैं, उनमें नयापन, विशिष्टता और एक विशेष प्रकार का तात्विक सौन्दर्य प्राप्त होता है ।

सामान्यत: अक्षर, अक्षरों की संख्या, मात्रा अथवा वर्ण गणना आदि से संबंधित विशिष्ट नियमों से नियोजित पद्य रचना छंद कहलाती है ।[67] समकालीन हिन्दी कविता में अज्ञेय ने छंद के संबंध में उपर्युक्त धारणा को अस्वीकार करते हुए छंद की एक नयी व्याख्या की । उनके अनुसार -'छंद का अर्थ केवल तुक या बंधी हुई समान स्वर यात्रा या वर्ण संख्या नहीं है। तुक छोड़ देते ही छंद टूट जाता है, यह मैं नहीं मानता । छंद योजना का ही एक नाम है । जहां भाषा की गति नियंत्रित है, वहां छंद है' ।[68] आगे अज्ञेय यह भी कहते हैं कि छंद कविता का अभिन्न अंग है, जहां भी संयमन है, वहां छंद है । इस प्रकार छंद कविता का एक प्रमुख औजार है ।

हिन्दी कविता में मुक्त छंद पर जब भी बहस होती है तो अतुकांत, फ्रीवर्स छंद मुक्त आदि अनेक शब्द कभी भिन्न और कभी समान अर्थों में प्रयुक्त होने लगते हैं । प्रयाग नारायण त्रिपाठी ने डी. एच. लारेंस के उद्धरण के माध्यम से मुक्त छंद का वास्तविक तात्पर्य समझने का प्रयास किया है - 'मुक्त छंद मयी प्रत्येक कविता अपने आप में एक पूर्ण इकाई होती है । वह भावानुकूल शब्द संयोजना का एक सुचिन्तित और अनुशासित प्रयास होता है - ऐसा प्रयास जो अराजकता नहीं, बल्कि उच्च कोटि का अभिव्यक्ति संयम है - ऐसा संयम जो परम्परा से भिन्न होते हुए भी उससे सम्पृक्त है ।'[69]

अशोक वाजपेयी के यहां जिस तरह की मुक्त छंदता कविताओं में पायी जाती है, उस पर बराबर गद्यात्मकता का खतरा टंगा रहता है । जिसके मूल

में यह बात कही जा सकती है कि छंद के रूप गठन में किसी प्रकार का कोई आधार नहीं है यहां । परन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है । सिद्धान्ततः यह मानना होगा कि मुक्त छंद में भी लय का आधार निर्मित ही रहता है । यानी ऊपर से गद्य का आभास देती पंक्तियां भी किसी न किसी सूक्ष्म लय के सूत्र में पिरोयी गयी होती हैं । अज्ञेय कहते हैं -'आजकल की कविता लय को उक्ति का अभिन्न अंग मानती है ।'[70]

अशोक वाजपेयी की कविताओं में छंद का निर्माण लय से होता है । अर्थात् छंद के भीतर लय की अन्विती रहती है। यद्यपि मुक्त छंद विश्लेषणात्मक भाषा और विचारपूर्ण वस्तु से निर्मित होती है, फिर भी किसी न किसी स्तर पर लयात्मकता मौजूद रहती है -

'शायद उस क्षण को भी नहीं पता था कि अपनी सहज लय से उसे मुकाम तक पहुंचना होगा । निम्नाभि था वह क्षण, पर यों कहीं नहीं था । उस शरीर से उस दूसरे शरीर के रस विभोर स्पर्श में उसकी संभावना हुई । यों वह बीत गया जैसे आकाश गंगा में लोप हो जाने के बाद भी नक्षत्र कहीं न कहीं बना रहता है, वह भी बना रहा । चुम्बन का वह पहला क्षण और उसका आर्द्र स्पंदन तिरोहित नहीं हुए, वे लय हो गये, जिसे प्रायः नीरव ही उसके शरीर गाते रहते हैं ।'[71]

इन कविताओं में लय आंतरिक अन्विति के रूप में उपस्थित होता है । इसका कारण है कि उनकी मूल संहति और पद योजना अटपटी नहीं है, बल्कि एक सीधे विन्यास में सजी हुई है, जहां अनुभूति सशक्त रूप में अभिव्यक्त होती है --

वह आ रही है
जैसे खिड़की से आ रहा है एक प्रच्छन्न आकाश
जैसे एक गिलहरी उठा रही हो
सारी की सारी वन गंध ।[72]

अशोक वाजपेयी के शिल्प में एक बहाव है । एक अर्थों में कहें तो वह शिल्प के कवि हैं । शिल्प विधान के प्रति इस सजगता के मूल में अनुभूतियों का गतिशील होना ही है । अपने रागात्मक बोध की व्यापकता को अशोक वाजपेयी कविता में संभव करते हैं । अकारण नहीं है कि चाहे प्रकृति का सौन्दर्य हो या नारी देह का सौन्दर्य - सब अपने मौन में ही मुखर होते हैं । अबोलेपन की कोई स्पष्ट धारणा इन कविताओं में मौजूद नहीं है ।

इन कविताओं में प्रस्तुत लय विधान की एक और विशिष्टता है कि इनसे संबंधित शब्द औचक नहीं खुलते, बल्कि धीरे-धीरे अपने को सामने ले आते हैं । इसका सबसे बड़ा प्रभाव तो यह होता है कि ये देर तक अपनी सांगीतिक ध्वनि के कारण मस्तिष्क में बजते रहते हैं । पाठक को यही ध्वनि उसे अतीत से लेकर वर्तमान तक ले जाती है । लयक्ता के विधान में डूबी ये कविताएं एक विशिष्ट प्रकार के सम्प्रेषण को उत्पन्न करती हैं, जो सीधे सीधे संवेदना को `हाण्ट` करती है, ठीक शमशेर के कविता की आन्तरिक लयात्मकता की तरह । इसीलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि अशोक वाजपेयी अपने शिल्प के लिए छायावाद के ही पास जाते हैं । परन्तु यहां पर यह प्रश्न विचारणीय होता है कि क्या इस तरह के शिल्प का कोई औचित्य है ? हिन्दी काव्य की रूढ़ प्रवृत्तियों को जहां आज नकार कर एक नये ढंग के शिल्प को कविता में लाये जाने का आग्रह बढ़ रहा है, वहीं अशोक काव्य-शास्त्र की पुरानी परम्पराओं का निर्वाह कैसे और क्यों किए जा रहे हैं ? इस पर अशोक का उत्तर है -`इस कठिन होते जा रहे समय लोग अपनी वास्तविकता एवं जीवन संघर्ष में इतना डूब गए हैं कि उनके निजत्व से उनका कोई सरोकार नहीं रहा । मैं अपनी कविता में इसी निजता को सहेजना चाहता हूं और इसी कारणयह शिल्प विधान मुझे उस निजता की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक लगा ।`[73]

कहना होगा कि इन कविताओं में प्रस्तुत लय विधान की अभिव्यक्ति पूरी कविता को एक अलग और विशिष्ट सौन्दर्य बोध में बांध देती है और

कविता इसी सौन्दर्य के सहारे वर्तमान केसाथ अतीत एवं भविष्य में भी गहरे तक जाती है । कविता में विचारधारा के रूढ़ अर्थों में चाहे ऐसा कुछ न हो, पर शिल्प एवं संवेदनात्मक कल्पना का ऐसा संयोजन बाद की पीढ़ी में कहीं दिखता हो, याद नहीं । छंद, लय, ऐन्द्रिकता कविता के आवश्यक उपादान होते हैं और कविता के इन्हीं चिर-परिचित उपकरणों के सहारे वे एक मौन और परिष्कृत सौन्दर्य बोध का, रंग और संगीत इन कविताओं में सजाते रहते हैं । पूर्वाग्रह स्वरूप इसे 'अभिजात्य के वैभव का प्रदर्शन ' की संज्ञा भी दी जा सकती है (कविताएं इसका पूरा अवसर भी देती हैं) पर यह तो कहना होगा कि ये मनुष्य की सुप्त संवेदना और उसके निजत्व को प्रेम के हल्के स्पर्श में जगाती हैं और वहाँ ले जाती हैं --

> जहां पलाश अंतिम नमस्कार के बाद भी खिला हो प्रसन्न
> जहां बच्चे गेंद की तरह खेल रहे हों नक्षत्रों से
> जहां बारिश के आसपास कीड़ों की कतारों की तरह
> अनंत रेंगता हो आसपास ।[74]

(ख) ऐन्द्रिकता

ऐन्द्रिकता अर्थात् इंद्रियों से जुड़ा हुआ सौन्दर्य बोध । कल्पना एवं रोमान के संतुलन से ऐन्द्रिय प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं । अशोक के काव्य में ऐन्द्रिकता का भरपूर प्राधान्य है। ऐन्द्रिकता के आग्रह से मुखर इन कविताओं में रोमान लगभग ही उपस्थित रहता है, बल्कि ऐन्द्रिक सौन्दर्य बोध शारीरिक वीथिकाओं में ही अपनी लय पाता है । मूलत: इन कविताओं में प्राप्त ऐन्द्रिकता क्रमश: विषयोन्मुख दैहिकता में परिणत होने लगती है । फिर तो सिंची चली आती है चटख विलासित रक्ताम्बरायें एवं दिगम्बरायें तथा ऐन्द्रियता की वह नाना छवियां जो देहवाद की एकादशियों मैंपर्यवसित होती रहती हैं ।[75]

फिर बेंध लेना, मथ देना भर लेना
अपने उदग्र हठी पुष्प से
अभी तो मुझे चम्पक से, पारिजात से सजाओं
क्या फूलों को फूलों से नहीं सजाते ।[76]

ऐन्द्रिकता का संबंध शरीर की पांचों इंद्रियों (स्पर्श, गंध, स्वाद, श्रवण, दृश्य) से होता है । अशोक की कविता इन पांचों इंद्रियों के प्रभाव से सम्पूरित होती चलती है । इसीलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि एक भिन्न किस्म की मांसल ऐन्द्रिकता का दर्शन इन कविताओं में प्राप्त होता है ।

रतिश्लथ वह उसे देखती है
अपने नेत्रों भर से नहीं
अपनी पूरी देह से
स्तन पुरस्कृत वह उसे छूता है
अपने हाथों भर से नहीं
अपनी समूची अस्ति से ।[77]

इस ऐन्द्रिक विधान में प्रमुखता स्पर्श-संवेदन की है । `थोड़ी सी जगह` की कविताओं को अगर देखा जाये तो नायिका को छूने, चूमने, या उसे बांहों में थाम लेने की ही प्रवृत्ति अधिक है । अर्थात् नारी देह को स्पर्श करने की अकुलाहट से ही पूरी कविताएं आक्रान्त हैं । स्पर्श का ऐसा सुनियोजित एवं परिपक्व विधान समकालीन प्रेम कविता में इस तरह प्रकट नहीं होता है । अन्य ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों का संयोजन भी इन कविताओं में है । `उसके देह में भर गयी फूलों की सुगंध `, या `वाद्य की तरह बजती है उस की देह`, इसी तरह ध्वनि एवं गंध ऐन्द्रिकता के उदाहरण हैं ।

अशोक वाजपेयी के यहां रागधर्मी ऐन्द्रिक अनुभवों का वैविध्य है । भावुकता का निषेध भी जरूरी तरीके से इनमें नहीं है, बल्कि कई बार तो कवि

भावुकता के गहरे संसार को अपनत्व के साथ ग्रहण करता है । कविताओं की ऐन्द्रिकता का मूल स्रोत भले ही प्रकृति हो, पर कभी कभी एक विस्मय-बोध उनसे भी उभरता है ।

इन कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कवि पुराने प्राकृतिक उपकरणों से एक नवीन अर्थ संदर्भ उत्पन्न कर देता है । अनायास नहीं है कि `वही वृक्ष है, वही कुहरा, वही बसन्त, चंद्रोदय आदि, पर कवि अपने विशिष्ट काव्यानुभव से उन्हें सिर्फ दृश्य बने रहने नहीं देता, बल्कि इन्हें गहरे स्तर पर संवेद्य बनाता है ।`[78]

कभी आवाज कर अर्राता हुआ दरवाजा खुलता है
कभी अचानक खिड़की
कभी आती है थोड़ी सी धूप
कभी और जमकर बैठ जाता है ठंडा अंधेरा
कभी चिड़ियां चहकती हैं
भटक कर आती है फूल गंध
मोमबत्तियों में झिलमिल रात पिघलती है ।[79]

अशोक वाजपेयी की ऐन्द्रिकता शायद इसीलिए ताजी या जीवन्त प्रतीत होती है कि चाहे प्रकृति का स्वप्न हो या नारी देह का सुसज्जित आकाश, सबसे वह एक जीवंत आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं और उसकी संवेदना से गुजरने लगते हैं । कहना न होगा कि अपने इसी सघन ऐन्द्रिय बोध के सहारे कवि कल्पनाओं के मनोरम आकाश पर निर्विघ्न टहलता है । आकाश में, प्रकृति में और प्रेमिका की बहुवर्णीय छवियों में गहरे स्तर तक प्रविष्ट होकर अशोक जीवन के इस `सत्य` को और बेहतर बनाने के प्रयास गढ़ते हैं ।

इन ऐन्द्रिक चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें ऐन्द्रिय अभावों की प्राय: मिश्रित रूप-योजना प्राप्त होती है (अगर याद करें तो छायावाद में भी ऐसे मिश्रित ऐन्द्रिय विधान का रूप उपस्थित है) इसे कवि की ग्रहणशीलता और विकसित संवेदनशीलता का ही प्रमाण माना जा सकता है ।

चीखते संगीत एवं शोरगुल के बीच
जयजयकार की तुमुल के बीच
छू सकें उसका हाथ
उसकी गरमाहट
उसका संकोच, उसका शरीर ।[80]

अशोक वाजपेयी की ऐन्द्रिकता में अपने संसार को अपने तरीके से देखने का प्रयास है एवं अपने अनुभव संवेदनों को क्षणिक से कालातीत बना कर प्रस्तुत करने का विशेष आग्रह है । कवि का यह व्यापक ऐन्द्रिय विधान न केवल एक बृहदतर संसार की उपस्थिति को संभव बनाता है, बल्कि प्रेम के निजत्व की आत्मीयता को भी उससे जोड़ता है । रूप, रस, गंध, स्पर्श के स्तर पर यह ऐन्द्रिकता प्राकृतिक उपकरणों एवं स्त्री देह की गरिमा को सीधे-सीधे देखने और करीब से महसूस करने की एक दृष्टि का विकास करता है ।

0

संदर्भ

1. विषयान्तर : मदन सोनी, पृ0 131
2. थोड़ी सी जगह: अशोक वाजपेयी, पृ0 81
3. तिनका-तिनका (भूमिका) : अशोक वाजपेयी, पृ0 13
4. चुनी हुई कविताएं (भूमिका) : अज्ञेय, पृ0 8
5. थोड़ी सी जगह: अशोक वाजपेयी, पृ0 38
6. चुनी हुई कविताएं (भूमिका) : अज्ञेय, पृ0 9
7. तिनका-तिनका (भूमिका) : अशोक वाजपेयी, पृ0 13
8. काव्य भाषा पर तीन निबन्ध (भूमिका) : रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0 57

9. साक्षात्कार : सं० ध्रुव शुक्ल (अगस्त 95) पृ० 29
10. थोड़ी सी जगह : अशोक वाजपेयी, पृ० 58
11. वही, पृ० 76
12. सातवें दशक की कविता का शब्द विधान : सुमन राजे, पृ० 140
13. वही, पृ० 145
14. अगर इतने से (भूमिका) : अशोक वाजपेयी, पृ० 5
15. अज्ञेय की काव्य संवेदना : डा० राजेन्द्र प्रसाद, पृ० 98
16. नई दुनियां (पत्र - इंदौर)
17. तिनका - तिनका : अशोक वाजपेयी, पृ० 212
18. घास में दुबका आकाश (भूमिका) : अशोक वाजपेयी, पृ०
19. कल्पना (अंक 5) : सं० बदरीविशाल पित्ती, पृ० 251
20. थोड़ी सी जगह - अशोक वाजपेयी, पृ० 129
21. विषयान्तर : मदन सोनी, पृ० 130
22. कविता के नए प्रतिमान : डा० नामवर सिंह, पृ० 105
23. कविता से साक्षात्कार : मलयज, पृ० 111
24. थोड़ी सी जगह, पृ० 36
25. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग दो, पृ० 123
26. थोड़ी सी जगह, पृ० 137
27. विषयान्तर : मदन सोनी, पृ० 131
28. तिनका-तिनका (भाग एक) : अशोक वाजपेयी, पृ० 245
29. विषयान्तर : मदन सोनी, पृ० 132
30. छायावादोत्तर काव्य में बिंब विधान : डा० उमा अष्टवंश, पृ० 2
31. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान : डा० केदार नाथ सिंह, पृ० 23
32. वही, पृ० 27
33. थोड़ी सी जगह, पृ० 58

34. साक्षात्कार : सं० ध्रुव शुक्ल, जनवरी मार्च 1995, पृ० 134
35. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान : डा० केदारनाथ सिंह, पृ० 202
36. कामायनी : जयशंकर प्रसाद, पृ० 207
37. थोड़ी सी जगह, पृ० 25
38. थोड़ी सी जगह, पृ० 7
39. वही, पृ० 63
40. वही, पृ० 135
41. वही, पृ० 81
42. आधुनिक कविता में बिम्ब विधान : केदारनाथ सिंह, पृ० 212
43. थोड़ी सी जगह, पृ० 75
44. वही, पृ० 69
45. वही, पृ० 24
46. वही, पृ० 34
47. वही, पृ०
48. आधुनिक कविता में बिंब विधान : डा० केदारनाथ सिंह, पृ० 212
49. थोड़ी सी जगह, पृ० 39
50. वही, पृ० 38
51. वही, पृ० 105
52. वही, पृ० 84
53. वही, पृ० 73
54. आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब विधान , पृ० 28
55. थोड़ी सी जगह, पृ० 137
56. वही, पृ० 4
57. आत्मनेपद् : अज्ञेय, पृ० 45
58. थोड़ी सी जगह, पृ० 144
59. तिनका - तिनका : अशोक वाजपेयी, पृ० 30
60. वही, पृ० 295

61. थोड़ी सी जगह, पृ0 127
62. वही, पृ0 191
63. हिन्दी साहित्य कोश (भाग 1), पृ0 48
64. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0
65. सुधीश पचौरी (जनसत्ता - 12.2.95)
66. थोड़ी सी जगह, पृ0 66
67. अज्ञेय कवि और काव्य : डा0 राजेन्द्र प्रसाद, पृ0 93
68. भवन्ती : अज्ञेय, पृ0 101-102
69. नई कविता : सं0 जगदीश गुप्त, अंक दो (1955), पृ0 38
70. तीसरा सप्तक : सं0 अज्ञेय, पृ0 4
71. थोड़ी सी जगह, पृ0 77
72. वही, पृ0 90
73. घास में दुबका आकाश, अशोक वाजपेयी, पृ0
74. थोड़ी सी जगह, पृ0 53
75. साक्षात्कार : सं0 ध्रुव शुक्ल, जनवरी-मार्च 95, पृ0 125
76. थोड़ी सी जगह, पृ0 81
77. तिनका-तिनका, पृ0 298
78. साक्षात्कार - सं0 प्रभात त्रिपाठी, पृ0 123
79. तिनका-तिनका, पृ0 208
80. थोड़ी सी जगह, पृ0 39

000

परिशिष्ट

साक्षात्कार

उत्तर कथ्य

ग्रंथानुक्रमणिका

परिशिष्ट

अशोक वाजपेयी से साक्षात्कार

प्रश्न : अशोक जी, आपने जब कविताएं लिखनी प्रारंभ कीं, उस समय साहित्य में लगभग अराजकता का माहौल था । साहित्य के सारे परम्परागत समीकरणों को ध्वस्त करतेहुए अकवितावादियों ने अपने द्वारा गढ़े हुए मानदण्ड साहित्य में लागू करने पर बल दिया । उस कठिन समय में जब पूरा साहित्य ही राग-विहीनता की प्रक्रिया में था, आपने शुद्ध शृंगारिक अभिव्यक्ति और बिलकुल अप्रासंगिक हो चुके शिल्प के सहारे साहित्य के मैदान में उतरने का जोखिम उठाया । इस जोखिम उठाने के पीछे आपकी मंशा क्या थी ?

उत्तर : अव्वल दृश्य तो उतना ही अराजक था, जितना हमेशा हुआ करता है । जब मैंने कविता लिखनी शुरू की, उस समय बड़े-बड़े लोग सक्रिय थे, मुक्तिबोध, शमशेर, अज्ञेय, श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय आदि । अराजकता तो वैसी नहीं थी । अकवितावादियों का जो शिविर था, इससे शुरू में मेरा संबंध था, नए युवा कवि अपने को प्रस्तुत कर सकें, इसके लिए मेरी भी पहल थी, पर जब इन्होंने अपना काव्यशास्त्र गढ़ना शुरू किया और जो भी कवि आए, उसे लेने में संकोच नहीं किया, तो मैंने कन्नी काढ़ ली । दूसरे यह मुझे उस वक्त नहीं लगा था कि मैं बहुत साहसिक, या अलग कुछ विशेष कर रहा हूं । मुझे नई कविता की परम्परा में शामिल होना अच्छा लग रहा था । मैं एक छोटे शहर में रहता था, जहां दिग्गज आलोचक नंददुलारे वाजपेयी का नई कविता विरोध का बड़ा भारी आतंक था, इसके विरुद्ध कुछ करने का उत्साह था मन में । एक तरुण जनोचित साहसिकता भी थी उस समय । इसके अलावा यह मुझे नहीं लगा कि मैं कोई जोखिम उठा रहा हूं । मेरा और मेरा आसपास जो था, पड़ोस था, उसको जानने, समझने का

प्रश्न : नहीं, नहीं । मेरा कहने का आशय यह था कि आपके पहले संग्रह `शहर अब भी संभावना है` में जैसी प्रेम-कविताएं थीं, उस दौर में वैसी शृंगारिक प्रेम कविताएँ नहीं लिखी जा रही थीं । उस तरह का शिल्प नहीं था प्रचलन में ।

उत्तर : हां, वह तो ठीक है । मुझ पर उस समय जो प्रभाव थे, वे अज्ञेय, शमशेर और किसी हद तक रघुबीर सहाय के प्रभाव थे । ये मेरे प्रिय कवि थे और इनका प्रभाव शायद संग्रह में देखा भी जा सकता है । लेकिन उस समयमुझे अपना कवि होना जितना ठीक लग रहा था, उतना ही युवा होना । वह कविता संग्रह असल में एक छोटे शहर के युवा कवि का कविता संग्रह है, उसका भूगोल अधिक महत्वपूर्ण है । मसलन जो कविता मुझे अधिक साहसिक लगी, वह थी `आसन्नप्रसवा मां के लिए तीन गीत` । इस पर थोड़ी बहुत कंट्रोवर्सी भी हुई थी कि कोई युवक अपनी मां से यह कहे कि तुम्हारी बाहें ऋतुओं की तरह युवा हैं ।` इस पर आपत्ति हुई थी । मेरी विभिन्न प्रेम कविताएं पत्रिकाओं से लौट आयी थीं । मैं कल्पना, राष्ट्रवाणी आदि में छपने लगा था, लेकिन ये वहां से भी लौट आयीं, यद्यपि वहां से कुछ लौटता नहीं था मेरा । राजकमल चौधरी ने एक पत्रिका निकाली थी `रागरंग` । उसके दूसरे या तीसरे अंक में इसे `प्राईवेट मैडनेस` की कविताएं कहके छापी थीं । उस समय जो प्रेम कविताएं लिखी जा रही थीं, वह एक तरह से छायावादी ओट का काव्य था, जिसमें जो अभिप्रेत है, उसको इंगित करना अभीष्ट था, सीधे-सीधे कहना ठीक नहीं था । मैंने यह एक जोखिम उठाया था कि जो है, उसे सीधे-सीधे कहूं - जैसे यह कि मैं जो तुमसे कह चुका हूं, तुम अपने शरीर से कहने दो` । यह एक तरह की `डाइरेक्टनेस` की कोशिश थी, लेकिन फिर भी मुझे उत्साह था, कुछ नया करने की इच्छा थी, लेकिन ऐसा मुझे नहीं लगा कि मैं बड़ा जोखिम ले रहा हूं ।

प्रश्न : आपकी प्रेम कविताओं में रति संबंधों की प्रगाढ़ता और स्त्री के दैहिक सौन्दर्य की प्रधानता है, यद्यपि ये कविताएं जीवन के बोध से गहरे स्तर पर संपृक्त हैं, फिर भी आपको ऐसा नहीं लगता कि आप प्रेम के बजाए रति औरसौन्दर्य के कवि हैं ?

उत्तर : रति, प्रेम, सौन्दर्य का कवि कहना वर्णन की एक पद्धति है, इससे तो मेरी पूरी कविता का समाहार नहीं होता है । अगर यह मान लें कि मैं प्रेम का ही कवि हूं तो यह भी सही नहीं है, क्योंकि मैं प्रेम के अलावा भी बहुत सी चीजों का कवि हूं । अगर ये कहें कि मैं प्रेम और मृत्यु का कवि हूं, लेकिन मैं तो प्रकृति का भी कवि हूं, ये तो वर्णन करने की पद्धतियां हैं । दूसरी बात यह कि हमारे यहां इन बातों में जो भेद माना गया है, असल में तात्विक नहीं है । हमारे यहां जो विचार है उसमें भी यह कहा गया है कि रति भाव प्रेम का कोई खण्ड-भाव नहीं है, अर्थात् रति प्रेम का एक अंग है, दूसरे अंगों की ही तरह । मेरी जानकारी में तो हमारी परम्परा में ही ऐसी अवधारणा नहीं है और अगर है भी तो मैं उससे सहमत नहीं हूं । हमको प्रेम को व्यक्त करने के रूपक चाहिएं, सबसे कठिन रूपक रति का रूपक है और प्रेम के बारे में, तथाकथित रतिविहीन प्रेम के बारे में, रति-मुक्त प्रेम के बारे में कविता लिखना आसान है, जो सिम नहीं है। उसमें अतिकथन या मितकथन या वर्णन की नाजुकता, उसके लालित्य, कब वह श्लील या अश्लील की रेखा के बीच कब गड़बड़ा जाएगा, इसकी कोई समस्या नहीं है । इसमें कौशल भी अधिक चाहिए, ताकि रुचि या रस बना रहे कवि का, रसिक का बना रहे या न रहे, यह सब भी दिक्कत है । मैं तो यही कहूंगा कि मेरी कविता का एक प्रमुख सरोकार प्रेमहै, उसके लिए मैंने अक्सर रति का रूपक चुना है, लेकिन मैं प्रेम के बरक्स रति का कवि नहीं हूं । मुझे लगता है कि पिछले चालीस-पचास वर्षों में शायद ही कोई कवि ऐसा होगा, जिसने रति को इतना साधा हो, जितना मैंने । अच्छा-बुरा आप छोड़ दीजिए, गुण की चर्चा आप जांचिए, परन्तु सरोकार के रूप में रति तो है । प्रेम-कवि तो बहुत हैं, पर आप चाहें

कि इसमें भी किसी अद्वितीयता की खोज हो, सोच में भी इससे मदद मिलती है । एक अनूठापन भी इसमें मिलता है ।

वास्तव में हमने बहुत सारे कवियों को कम पढ़ा है या नाकाफी पढ़ा है । जैसे कालिदास को सौन्दर्य का कवि कहा जाता है, कालिदास रति के कवि क्यों नहीं हैं ? कालिदास के `कुमारसंभवम्` में जो रति वर्णन है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है । जयदेव, कालिदास, विद्यापति, बिहारी, देव या अन्य जो रीतिकालीन कवि हैं, उनके यहां रति की एक पूरी परम्परा है । पर खड़ी बोली में - खड़ी बोली के जन्म को हिन्दी साहित्य का मुख्य माध्यम बने हुए अभी एक सदी से कुछ ही ज्यादा हुआ होगा, इसी दौरान मध्यवर्गीय मूल्य व्यवस्था में कुछ बुनियादी परिवर्तन आए, जिसमें एक परिवर्तन यह था कि हमने `विक्टोरियन नैतिकता` को ओढ़ना शुरू किया, जिसके तहत स्वतंत्रता के बाद पुरुषोत्तम दास टंडन यह कहने पर मजबूर हुए कि खजुराओ की रति चित्रित मूर्तियों को ढांक देना चाहिए । मेरी यह समझ है कि दोनों ही शब्द इसके लिए अपर्याप्त हैं । रति भी अपर्याप्त है और प्रेम भी अपर्याप्त है, असल चीज है शृंगार जो कि हमारी परम्परा का एक बीज शब्द है । मैं शृंगार की परम्परा का कवि हूं और बड़बोलापन तो नहीं करना चाहिए, पर ऐसे उत्तराधिकारी कम ही बचे हैं ।

आप अपने घर को सजाने के लिए तो मिनिस्चर चित्र लाने को तैयार हैं, ठुमरी सुनने को तैयार हैं, यानि रति के जो अन्य रूप हैं, उन सब को स्वीकार कर रखा है आपने । लेकिन सिर्फ सजावटी तौर पर । ये आपकी आत्माभिव्यक्ति के रूप नहीं हैं, यह जो खोट है, मेरी कविता उनके विरुद्ध एक हस्तक्षेप है। यह मत भूलिए कि भारत की शृंगार परम्परा विश्व की महान् शृंगार परम्पराओं में से एक है । अगर आप शृंगार को रति तक ही सीमित रखना चाहते हैं, जिसे `इरॉटिक` कहा जाता है,

उसकी महान परम्परा में एक भारतीय परम्परा है, मुझे यह समझ नहीं आता कि मैं अपनी भाषा का उत्तराधिकार क्यों छोड़ दूं ?

प्रश्न : आपकी कविताएं तत्सम् पदावली के शब्दों से बुनी हैं, विशेषत: प्रेम कविताएं । समीक्षकों का कहना है कि ऐसा इसलिए है कि आपको शायद कविता की इस नवीन भाषा पर विश्वास नहीं है, पर मैं यह कहता हूं कि इन कविताओं के `शील` एवं `कोमलता` की रक्षा के लिए यह भाषा आवश्यक है । आप कृपया यह बताएं कि आपको इस विपर्यस्त होती जा रही भाषा और पुराने आलों में धर दिए गए शब्दों से इतनी आसक्ति क्यों है ?

उत्तर : हमारे समय में कविता का शब्द संकोच हुआ है, अपठनीयता आ गई है, अखबारीपन आ गया है, सारा कुछ अभिधा में व्यक्त होने लगा है । किसी शब्द की कोई अनुगूंज नहीं बची है । संसार में महान कविता वह होती है जो दूसरी कविता की याद दिलाती है । कविताएं स्मृति का एक अंग होती हैं, जातीय स्मृति का भी और भाषा की स्मृति का भी । शब्द किसलिए हैं ? कोई शब्दकोष में रखने के लिए थोड़े ही बनाए गए हैं । एक तो सबसे बड़ी कठिनाई हमारे शब्द सम्पदा को रखने की है । भाषा की सम्पदा बहुत बड़ी सम्पदा है । कौन कितना उपयोग करता है, कवि कौशल का, यह भी एक मानदण्ड है । दूसरे, मैं अपने आपको उत्तराधिकार से जोड़ना चाहता हूं, और यह मेरा यत्न जानबूझ कर है इसीलिए मेरा काम तद्भव से पूरा नहीं होता । यदि मैं कालिदास, जयदेव, विद्यापति को अपनी कविता की काया में सहेजना चाहता हूं तो मेरा काम तद्भव से नहीं चल सकता । और वो कवि अच्छे कवि नहीं होते हैं, अक्सर, जो चालू या दी गई भाषा से अपना काम चला लेते हैं । हर अच्छा कवि अपने लिए एक नई भाषा पैदा करता है । छायावाद से नई कविता का जो सम्बन्ध था, वह विरोध का सम्बन्ध था । असल में नई कविता का विरोध छायावाद से उतना नहीं था जितना

छायावादोत्तर कविता से । इसके साथ ही छायावाद की जो अपनी भाषिक परंपरा थी, मुद्राएं, अभिव्यक्तियां, वो जाती रहीं । किसी हद तक मैं उसको पुनरायत्त करने की कोशिश करता हूं । मुझे लगता है खड़ी बोली की जो सम्भावनाएं थीं, उसको एक बड़ा रिश्ता छायावादियों से था । अगर किसी हद तक उनको अपनी भाषा की जातीय कल्पना को ही पुनर्सक्रिय करना हो तो छायावाद से निपटे बिना, उससे जूझे बिना, आप नहीं निकल सकते । क्योंकि छायावाद अपने आप में कालिदास, तुलसीदास का पुनर्सृजन है । तो निराला की भाषा, एक तरफ जिसमें `राम की शक्ति पूजा` है, जिसमें कोई क्रिया-पद ही नहीं है । और दूसरी तरफ `महंगू महंगा रहा` और `कुकुरमुत्ता` है, ये जो रेन्ज है, इस रेन्ज को हर कवि नहीं साध सकता । निराला होना कठिन है, लेकिन हम क्यों उस पूरे मूल्य को अव्यवस्थित करें । अज्ञेय की एक कविता में `भीड़ का मत हो डटा रहे` इसकी अगली पंक्ति है `किन्तु दिग्मित् पान्त के समुदाय से तू अकेला मत चल` ऊपर की पंक्ति शुद्ध तद्भव और बीच में तत्सम् । कवि वह है, मेरी दृष्टि में, जिसके यहां भाषा के सारे संसाधन एक साथ मौजूद हों । यह उसके कवि कौशल पर है कि वह उसमें कितना उपयोग करे । लेकिन आप यह फैसला नहीं कर सकते कि हमको तद्भव करना है या तत्सम् करना है ।

प्रश्न : मदन सोनी ने कहीं लिखा है कि अपनी विशिष्ट तत्सम् पदावली के कारण ही ये कविताएं भोगवादी आख्यान का पाठ बन जाने से बच जाती हैं, नहीं तो कविताएं इसकी पूरी गुंजाइश देती हैं । अगर मदन सोनी की बात मान लें, हम तो क्या कविताएं अपनी इसी पदावली से अपनी अश्लीलता को ढंक लेती हैं ?

उत्तर : देखिए यह तो वही हुआ कि मेरी देहयष्टि ऐसी न हो जैसी कि वह है, मेरा चेहरा-मोहरा वैसा न हो जैसा कि वह है तो मैं अशोक वाजपेयी

नहीं हूं । आखिरकार आप जिस पदावली का इस्तेमाल करते हैं, उस पदावली के कारण ही तो कविताएं बनती हैं, ऐसा नहीं है कि मेरे सामने यह विकल्प था कि मैं चाहूं तो इसे तत्सम् में लिखूं और यदि चाहूं तो इसे तद्भव में लिख दूं । इसलिए शब्द की जो संरचना है, वह कविता के मूल अभिप्राय से अलग नहीं देखी जा सकती है । यह तो हो सकता है कि एक शब्द अधिक बेहतर हो, बनिस्बत दूसरे के । हम तो सही शब्द की तलाश करते हैं और वहसही शब्द एक ही होगा, कई तरह के नहीं होंगे कि जिनमें से एक को आपने स्वेच्छाचार के भाव से चुन लिया, ऐसा नहीं है ।

प्रश्न : नामवर जी आपको देह एवं गेह का कवि कहते हैं और यह भी मानते हैं कि आपकी कविताओं में दूर दूर तक विचार नहीं है । यद्यपि मेरा यह मानना नहीं है, क्योंकि आपकी कविताओं में प्रेम एवं शृंगार के बहाने जीवन एवं स्त्री को विभिन्न कोणों सेपरम्परा के आलोक में देखने का जो प्रयत्न है, वह अपने आप में किसी संपूर्ण विचार से कम नहीं है, फिर भी आपसे यह जानने की आकांक्षा है कि आप देह और गेह की प्रेत छाया से अपने को मुक्त क्यों नहीं कर पाते हैं (दूसरों के आरोपानुसार) ?

उत्तर : नामवर जी तो एक मुहावराप्रिय व्यक्ति हैं, उन्होंने एकवाक्य चस्पां कर दिया । मुझे सिर्फ देह एवं गेह का कवि होने में भी कोई बहुत एतराज की बात नहीं लगती है । हर कवि के एक-दो प्रमुख सरोकार होते हैं । समूचे जीवन को समेटने की कोशिश हर कवि करता है, लेकिन करता तो कुछ विशेष सरोकारों के ही माध्यम से है, जिन पर वह अधिक बल देता है, तो देह और गेह क्या बुरे हैं ? यह और बात है कि देह के अलावा बहुत सारी चीज़ें हैं, जिन पर ध्यान जाना चाहिए । उनकी ओर ध्यान मैं क्यों दिलाऊं, अगर मेरी कविता नहीं दिलाती है । दूसरी बात यह कि कविता में विचार का क्या अर्थ है, यदि कविता

में विचार का वही अर्थ है जो आम तौर पर विचार का अर्थ है, तो वह कविता से स्वतंत्र भी सुलभ होगा, तो हम कविता के पास क्यों जाएं। मसलन् मार्क्सवाद एक महान् विचार है, यदि मुझे मार्क्सवादी विचार की ही तलाश है तो मैं सीधे मार्क्सवाद की ओर क्यों न जाऊं, साहित्य के माध्यम सेउसे प्राप्त करने की क्या जरूरत है। कविता में विचार की जो स्थिति है, वह ऐसी नहीं कि आप उसे विविक्त करके कहें कि यह उसका विचार तत्व है, यह उसका फलां तत्व है - ऐसा नहीं है। कविता में विचार ऐसा ही घुला-बिंधा है जैसे कि रक्त या कोई और रसायन। दूसरे कि आपको यह देखना होगा कि मैं किस समय में क्या करता हूं, अगर देह और गेह का ही रूपक फिलहाल तर्क के लिए मान लें तो। जब एक ओर लगातार देह का अपहरण होता जा रहा है, उस समय आप देह की कविता लिख रहे हैं, तो यह एक वैचारिक हस्तक्षेप है। एक ऐसे समय में जब प्रेम पर बात करना या प्रेम की कविता लिखना ठीक बात नहीं माना जाता है, उस समय प्रेम पर आग्रह करना, संबंधों की उष्मा पर आग्रह करना, उस समय आसक्ति पर आग्रह करना, रति पर आग्रह करना, यदि यह वैचारिक नहीं है तो क्या है ?

गेह, एक ऐसे समय में जब यह माना जा रहा है कि एक तरह की संबंधहीनता ही संसार को अनियमित कर रही है, ऐसे में समय पर, पड़ोस पर, मां-पिता, बहन, बेटी एवं रिश्तों पर आग्रह करना तथा इनको जिजीविषा के रूपक बनाना अगर वैचारिक हस्तक्षेप नहीं है तो क्या है ? यह तो आपके ऊपर है कि आप कैसे पढ़ें उसको। मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूं कि मैं उन कवियों में नहीं हूं, जो अपने विचार की पताका अपनी कविता के दुर्ग पर फहराते हैं। ऐसा कोई सहारा मेरी कविता में नहीं है कि आप देख सकें कि नीला है या लाल है या किस विचार का होगा, ऐसी सुविधा लेने को मैं तैयार नहीं हूं।

प्रश्न : आपकी कविताओं में प्रेम और देह के अधुनातन चित्रों के साथ ही नश्वरता और अनुपस्थिति का भी गहरा आग्रह मौजूद है । अज्ञेय के यहां भी प्रेम और मृत्यु की जुगलबंदी का ऐसा ही विशद आख्यान प्राप्त होता है । क्या इस बिंदु पर आप स्वयं को अज्ञेय के करीब पाते हैं । अगर नहीं, तो आप दोनों की ऐसी कविताओं में, जहां नश्वरता और अनुपस्थिति की भाव संवेदना है, मूल अंतर क्या है ?

उत्तर : मैं न तो देह का कवि हूं, न गेह का कवि हूं और न ही प्रेम का कवि हूं । असल में मैं जीवनासक्ति का कवि हूं, मैं जिजीविषा का कवि हूं । एक ऐसा समयजिसमें जीवन को संकुचित करने, उसे रोकने-प्रभावित करने के सारे दैत्याकार उपकरण हमीं ने विकसित किये हैं । ऐसे समय में जीने की इच्छा का जो आग्रह है, मैं उसका कवि हूं । अगर रति प्रेम का रूपक है तो रति स्वयं इस आसक्ति का रूपक है, इसकी जिजीविषा का रूपक है । कवि तो रूपकों से ही काम चलाते हैं । एक रूपक दूसरे का रूपक है, इसी में तो मजा है ।अगर आप जीवनासक्ति के कवि हैं, या जीवनासक्ति आपका एक बुनियादी सरोकार है, नश्वरता भी आपका अनिवार्यत: बुनियादी सरोकार है, क्योंकि इस जीवनासक्ति में यह अंतर्निहित है कि इस जीवन के प्रमुख अंग हैं ये ।ये उसके बिल्कुल अनिवार्य पक्ष हैं ।जिस तरह पिछले पचास वर्षों में रति की कविता कम लिखी गयी, उसी तरह मृत्यु की भी कविता बहुत कम लिखी गयी । अभी जो मेरी अनुपस्थिति पर कविताएं आयी हैं,`जो नहीं हैं ` तथा मेरी प्रेम कविताओं का संग्रह `थोड़ी सी जगह` - इन दोनों को मैं एक ही किताब की दो जिल्दें मानता हूं । एक में प्रेम है, दूसरे में मृत्यु, एक में उपस्थिति है, दूसरे में अनुपस्थिति । प्रेम एवं मृत्यु, उपस्थिति एवं अनुपस्थिति का अनिवार्य द्वन्द्व है । अगर आप देखें तो किसी और कवि ने प्रेम पर मृत्यु पर इतनी कविताएं नहीं लिखी हैं, जितनी मैंने, अगर विशुद्ध संख्या की बात करूं तो गुणवत्ता तो आप देखें । प्रेम और मृत्यु, उपस्थिति एवं अनुपस्थिति इनको जोड़ने वाली जो शक्ति है, मैं उसे देखता हूं । एक तो द्वन्द्व है, जो दोनों के बीच है, अर्थात् दोनों के

बीच एक गहरा अन्तर्विरोध है जो दिखता नहीं है, क्योंकि दोनों एक ही आसक्ति के दो रूपक हैं, एक प्रेम है, दूसरा अनुपस्थिति ।

प्रश्न : जैसा मैंने कहा था कि अज्ञेय के यहां भी ऐसी कविताएं हैं, क्या आप उनसे प्रभावित हैं, अगर हां तो किन अर्थों में ?

उत्तर : हिन्दी के तीन कवियों का प्रभाव मेरे ऊपर सबसे अधिक रहा -`अज्ञेय`, `शमशेर`, `रघुवीर सहाय` । मैं समझता हूं ऐन्द्रियकता का जो भाव है, वो मैंने शमशेर से पाया है, उनकी सघन ऐन्द्रियता का प्रभाव मेरे ऊपर है, अज्ञेय की दृष्टि में जो विशालता है, उसने मुझे काफी प्रभावित किया और इस बात से यदि मेरा कुछ सम्बन्ध जुड़ता है, तो मुझे एतराज़ नहीं । अज्ञेय से प्रभावित होना यदि दूसरों को कोई दुर्गुण लगता है तो लगा करे, लेकिन मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं अपने वरिष्ठ कवि के प्रति, जिनसे सीखने का मुझे कुछ मौका मिला ।

प्रश्न : आपकी कुछ प्रेम कविताओं में आध्यात्मिकता का गहरा संस्पर्श मिलता है, जो कभी-कभी कविताओं की अर्थवत्ता को जटिल बना देता है और कविताएं सहजता से सम्प्रेषित नहीं हो पाती हैं, अगर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आज होते तो आपकी कविताओं की इस प्रवृत्ति के आधार पर आपको रहस्यवादी कहते । क्या आप यह मानते हैं कि रहस्यवाद की आवृत्ति आपकी कविताओं में है, जहां तक मुझे याद आता है, आप ने एक जगह लिखा भी है कि रहस्यवादी समझे जाने से मुझे कोई आपत्ति नहीं है ? कृपया स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर : मैं यहमानता हूं कि ऐसा व्यक्ति कवि हो ही नहीं सकता जो जीवन-जगत को रहस्य न माने, कहे भले न, क्योंकि आचार्य शुक्ल और नामवर सिंह ने रहस्यवाद की निन्दा की है, इसीलिए रहस्यवादी कहना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाएगी, लेकिन रहस्यभाव मनुष्यता के

बुनियादी भावों में से एक है, जैसे आश्चर्य का भाव, जिनके मन में कभी रहस्य ही नहीं जागता, उनके मन में कभी आश्चर्य भी नहीं होता। मैं रहस्य का भी कवि हूं, आश्चर्य का भी । अगर अचरज या चकित शब्द की आवृत्ति देखना चाहें तो जैसे `देह का चकित चन्द्रोदय` । मुझे जीवन के प्रति एक गहरे रहस्यभाव का बोध है और मैं उसे बहुत मानवीय और कला समृद्धि भाव मानता हूं । कविताओं की सम्प्रेषणीयता में जो अवरोध उत्पन्न होता है, वो मेरी विफलता हो सकती है, रहस्य-वाद की नहीं । यह इस भाव की कोई आत्यान्तिक विशेषता नहीं है, (सम्प्रेषणीयता का संकट) मैं मानता हूं कि इन कविताओं में कोई कमी होगी, हर बार आसानी से कहां बेड़ा पार हो जाता है ।

प्रश्न - वर्तमान कविता के परिदृश्य से शृंगार का भाव लगभग गायब है, कविता के लिए माने जा रहे कठिन समय में जब शृंगारिक रागात्मकता और जीवनासक्ति के आग्रहों को छोड़ कर कविता जब तथाकथित जनवादिता की ओर मुड़ गई हो और विचारधाराओं के झण्डे होने का कार्य करती दीख रही हो, इस समय में आपको शुद्ध शृंगार और प्रेम की कविताएं लिखना कैसा लगता है ?

उत्तर - मुझे तो बेहद क्रान्तिकारी लगता है । जो चालू व्यवस्था है, जनवादी है, जैसा कि आपके प्रश्न में अन्तर्निहित है कि `है भी`, उससे अपना विरोध करना, अपने को अलग करना, क्रान्तिकारी बात है । मैं उसे अपना बहुत सौभाग्य मानता हूं कि मैं जनवादी नहीं हूं । इसका अर्थ यह नहीं है कि मुझे जन से कुछ लेना-देना नहीं है, इसका अर्थ यह भी नहीं है कि समाज आदि की चिन्ता नहीं करता हूं । ये सब मूर्खता की बातें हैं, जो समाज की बहुत चिन्ता करते हैं और जो विचारधारा का झण्डा उठाये घूमते हैं, वो सब जन को समझते होंगे, इसमें मुझे गहरी शंका है । मैं समझता हूं जन को, ऐसा कोई मेरा दावा नहीं है, मुझे जो मिला है, मेरे आस-पास जो है, हो सके तो उसे बदलने की कोशिश करता हूं ।

मैंने अपने ही विचार को दूसरे पर थोपने की कोशिश नहीं की । मैं अपनी जिद पर आज भी कायम हूं, लेकिन मैं दूसरों के विचारों की अवमानना नहीं करता, कभी नहीं किया । मसलन दुर्बोधता जो पैदा होती है मेरी कवि कौशल की कमी के कारण हो सकती है । उसे छोड़ दें यदि तो मैं दुर्बोध कवि नहीं हूं, पर मैंने दुर्बोध और जटिल कविता का लातार पिछले तीस वर्षों से बचाव किया है, आलोचना में, अपने संपादकीय में और संस्थागत काम में भी ।

प्रश्न : रोलाँ बार्थ ने एक साक्षात्कार में कहा था कि आजकल प्रेमी को पहचानना कठिन हो गया है । उसकी मुद्राएं भी अब साफ-साफ नहीं दिखतीं । हम देखते हैं कि हिन्दी कविता के लिए यह बात कमोबेश सच है । प्रेम के लिए उत्साहहीन एवं कठिन दिखते इस समय में क्या प्रेम करने का साहस कम हुआ है ? जीवन में भी और साहित्य में भी ।

उत्तर : मुझे नहीं लगता कि जीवन में ऐसा हुआ है क्योंकि जीवन तो एक ही मिला है, उसी में आपको सब करना है, रचना भी और प्रेम भी । हालांकि उसकी क्रियाएं और रूपक बदल गये हैं । प्रेम को हमारे यहां स्थायी कवि समय कहा गया है । इसलिए ये सब ऐसी चीजें हैं जिनसे हमारा छुटकारा नहीं हो सकता है । हम मनुष्य हैं तो प्रेम करेंगे ही, घृणा भी करेंगे । चूंकि हम मनुष्य हैं, सभ्यता बनाएंगे, संस्कृति बनाएंगे, भाषा गढ़ेंगे - ये सब हम इसलिए करेंगे कि हम मनुष्य हैं, इससे छुटकारा नहीं है, क्योंकि मनुष्य होने से छुटकारा नहीं है, लेकिन कविता में बावजूद अपनी बुनियादी प्रतिज्ञा के सब विषय काव्य-विषय हैं यह एक क्रान्तिकारी बात है, ऐसा कोई विषय नहीं है जो कविता का विषय न हो सके । लेकिन काव्य व्यवहार में हमने ये अड़ंगे, वर्जनाएं प्रतिषेध विकसित किए हैं । मैं नहीं समझता कि ये प्रेमहीन समय है । हमारा समय तो वही है जो मनुष्यों का होता है । उसमें समय और समयातीत के बीच व्याप्ति और अव्याप्ति के बीच, ज्ञात और रहस्य

के बीच वही द्वन्द्व है । लेकिन हमने एक वर्जना बनायी कि देह पर बात, प्रेम पर बात, रति पर बात करना जनवादी एजेंडा में शामिल नहीं है । जनवादी एजेंडा मनुष्य का एजेंडा नहीं है, न ही हिन्दी भाषा का एजेंडा है, न यह कविता का एजेंडा है । यह तो कुछ लोगों का एजेंडा है । मैं इस एजेंडा को रोकना नहीं चाहता लेकिन मैं उस एजेंडा से अपना काव्याचरण निर्धारित भी नहीं करना चाहता ।

प्रश्न : आपकी प्रेम कविताओं में जीवन एवं प्रेम के सुखद आख्यान की अभिव्यक्ति ही अधिक प्रदर्शित हुई है जबकि प्रेम का स्वरूप सिर्फ सुख में ही निहित होता नहीं है । एक स्तर पर उसमें तृष्णा, मोहभंग एवं वेदना के समीकरण भी होते हैं, आखिर क्या कारण है कि इन कविताओं में व्यक्त प्रेम दुःख की उपेक्षा करके सुख की ही तरफ भागता हुआ अधिक नजर आता है ।

उत्तर : अभी जो `तिनका-तिनका` संग्रह है मेरा, उसमें ईर्ष्या कविताएं भी हैं, उसमें कुछ दूसरा भी पक्ष है, लेकिन कुल मिलाकर मुझे ऐसा लगता रहा है कि हमारे समय में प्रेम को `सेलीब्रेट` करना बन्द हो गया है और इसकी करीब-करीब ख्वाहिश भी खो गई है, हालांकि ये किसी ने नहीं कहा । अतः मैंने प्रेम को `सेलीब्रेट` करना चाहा है । इस `सेलीब्रेशन` में जो इस तरह के अवान्तर तत्व हैं, वह शायदकम हैं । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं इससे नावाकिफ हूं, मुझे उस किंचित `सेलेब्रेटिड` ढंग के मुहावरे में इसके लिए जगह बनाना मुश्किल हुआ । यह मुझसे नहीं हुआ । जो मुझसे नहीं हुआ, वह मेरा संसार नहीं है ।

प्रश्न : प्रेम में आपकी नैतिकता की अवधारणा क्या है ?

उत्तर : अव्वल तो प्रेम अपने आप में एक परम नैतिक कर्म है । मनुष्य प्रेम से बड़ा कोई नैतिक कर्म कर सकता है, ऐसा मैं नहीं सोचता हूं । दूसरा यह कि

मैं एक तरह की समकक्षता, प्रजातान्त्रिक समकक्षता में विश्वास करता हूं । मैं प्रेम में मुक्ति की भी कामना करता हूं । समकक्षता और मुक्ति ऐसे दो नैतिक मूल्य हैं जिनमें मैं विश्वास करता हूं तथा जिनके बिना प्रेम संभव नहीं है । प्रेम समर्पण के बिना सम्भव नहीं है, राग के बिना भी संभव नहीं है, लेकिन विराग के बिना भी सम्भव नहीं है । प्रेम में मुश्किल यह है कि इसका जो अनुभव है, वह दूसरे अनुभवों के बरक्स विरुद्धों के सामन्जस्य के अधिक निकट है । आप बिलकुल मृतप्राय हैं या आप बहुत उदग्र और जीवन्त हैं, प्रेम में ये दोनों अनुभव मिल जाएंगे । प्रेम मनुष्य का केन्द्रीय अनुभव है, राजनीति या सामाजिकता आदि के अनुभवों में संभव नहीं है, इसलिए प्रेम परम राजनीति है क्योंकि उसमें विरुद्ध का भी उतना ही स्थान है, जितना राजनीति में नहीं होता । अगर मेरे साथ नहीं है तो तू मेरा दुश्मन है राजनीति में । प्रेम में प्रेमी और प्रेमिका के बीच मैत्री भाव और प्रेमी और प्रेमिका के बीच शत्रुता दोनों के लिए जगह है । एक तरफ रति दूसरी तरफ मृत्यु । एक तरफ अनन्तता, दूसरी तरफ नश्वरता प्रेम में ही सम्भव है । इसका केन्द्रीय रूपक मेरे लिए सिर्फ मेरा परम प्रेमी होना नहीं है । इसके पीछे एक अवधारणात्मक विश्व है ।

प्रश्न : आलोचकों का कहना है कि आपकी कविता में व्यक्त प्रेम महज `देह का उत्सव` है अर्थात् आप प्रेम के क्रियात्मक रूप की ओर ही अधिक एकाग्र होते हैं और अपने इस प्रयास में प्रेम की मूल संवेदना से बच कर निकल जाते हैं, अगर इसको दूसरे शब्दों में कहें तो प्रेम की अभिव्यक्ति अपने सम्पूर्ण संवेदनात्मक रूप में इन कविताओं में नहीं हो पाती, क्या प्रेम महज देह का उत्सव है ?

उत्तर : कविता एक क्रिया है, वह किसी क्रिया का बखान नहीं, वह एक अवधारणात्मक वक्तव्य भी नहीं है । संसार में जो महान कविता लिखी गई है, वह अपने में अवधारणात्मक नहीं है । प्रेम की जो सबसे

परिभाषिक क्रिया रति है, उसे चुनने का या उस पर ध्यान एकाग्र करने का यह मतलब नहीं है कि मैं रति पसंद व्यक्ति हूं । उसका कारण यह है कि कविता की काया, भाषा की काया, है , संवेदना की काया है, कविता की काया अनुभव की काया है । कविता की काया में ये सब मिले जुले हैं, इनको आपस में संयोजित करने, उनको एक संगठन देने, सौष्ठव देने का काम मैं करता हूं, इसको मैं नगेन्द्रवादी सौष्ठव के अर्थ में नहीं कह रहा हूं । मेरे लिए समूचा जीवन ही उत्सव है और इस पर जिनको आपत्ति हो, करें । जिनके लिए जीवन कुछ और है, उनके लिए मुझे भी आपत्ति नहीं है । किसी के लिए जीवन कुण्ठा है, किसी के लिए कालकोठरी है, मैंने तो अब तक जीवन को उत्सव के रूप में देखा है और इसीलिए मैं उसे मनाता हूं, आपको ऐतराज है तो न मनाइये । मैं देह और आत्मा के द्वैत को भी अस्वीकार करता हूं । आपको याद होगा एक कविता है मेरी -

`देह ही नहीं भस्म होता है प्रेम में
आत्मा भी भस्म होती है ।`

कविता के लिए देह ही आत्मा है । कविता की देह से अलग आत्मा कहां होती है ?

प्रश्न : आपकी इन कविताओं से गुजरते समय मुझे अक्सर एकरसता की प्रतीति हुई, शब्दों के दुहराव में आप देह के संसार और उसके क्रियात्मक अनुभव को बार बार ले आते हैं, ऐसा क्यों है ?

उत्तर : देखिये - एकरसता को किसी हद तक शायद अनिवार्य है क्योंकि रूपक ऐसा है । मैं यह मानता हूं कि जैसे लोग बार-बार प्रेम करते हैं, रति-रत होते हैं, बावजूद इसके कि वही कर्म है, फिर भी दुबारा-तिबारा क्यों करते हैं । हमें आवृत्ति और एकरसता में अंतर करना चाहिए । देखिए सारा भारतीय शास्त्रीय संगीत आवृत्ति पर आधारित है, हमारा सारा शिल्प - स्थापत्य आवृत्ति पर आधारित है । बहुत जमाने तक

कविता भी आवृत्ति पर आधारित रही है । आवृत्ति से एक आग्रह होता है । अगर आपको एकरसता लगती है तो यह इसका दोष नहीं है, बल्कि यह अभाग्यवश हुआ प्रतिफल है । दूसरी बात यह कि हर कवि के कुछ बीज शब्द हैं । अब `अनंत` है, लोग कहते हैं कि अशोक वाजपेयी अपनी कविता में अनंत-अनंत कहते रहते हैं, तो अनंत मेरा एक बुनियादी आग्रह है जिसको अलक्षित किया जा रहा है । मैं प्रेम, मृत्यु, जीवनासक्ति के साथ-साथ अनंत का भी कवि हूं । यह हास्यास्पद बात हो सकती है क्योंकि आजकल कोई अनंत का कवि होना चाहता है ? अन्यदूसरे कवि अनंत पर क्यों लिखना चाहेंगे ? असल में एक घटिया आधुनिकता ने उनको आक्रान्त कर रखा है, इसके चलते वे इतिहास की एक विशेष अवधारणा के आतंक में हैं । हम सोचते हैं कि ये बेकार की बातें हैं, लेकिन मैं ऐसा नहीं सोचता हूं । मैं न हो पाऊं, ऐसा, क्योंकि मेरी क्षमता में नहीं है । मेरे पास इतना कौशल नहीं है, इत्यादि । पर मैं इतिहास का नहीं, अनंत का कवि हूं । जैसा कि कहा जाता है कि मैं भयानक अभिजात्यता का कवि हूं और मुझे जीवन से कुछ लेना-देना नहीं है, तो मैं यह मान लेता हूं कि मैं अभिजात्यता का कवि हूं, मैं ज़िन्दगी की पवित्रता का कवि हूं और रोजमर्रा के जीवन की जितनी छवियां मेरी कविता में हैं, उतनी दूसरों में भी होंगी शायद, लेकिन मेरे यहां उनसे कम नहीं है ।

प्रश्न : आपकी प्रेम कविताएं दूसरों की प्रेम कविताओं से किन अर्थों में अलग हैं ?

उत्तर : जैसी उनकी प्रेमिकाएं मेरी प्रेमिकाओं से अलग हैं । मेरा ख्याल है कि एक तो रतिभाव के आग्रह में, दूसरे बखान के नि:संकोच में, और प्रेम के लिए कठिन, लगभग प्रेम विमुख समय में, प्रेम के इतने लम्बे `सेलीब्रेशन` के अर्थ में ।

प्रश्न : रति, सौन्दर्य, जिजीविषा और नश्वरता के तत्वों से बुनी ये कविताएं कितनी देर तक और कितनी दूर तक जायेंगी ?

उत्तर : जल्दी तो लगभग नहीं मरेंगी, क्योंकि ये सिर्फ समय से सीमित कविताएं नहीं हैं । ये लगभग समयातीत को भी संबोधित करने वाली कविताएं हैं, इसीलिए शायद इनकी बची रहने की गुंजाइश दूसरी कविताओं से कुछ अधिक है ।

प्रश्न : आपकी प्रेम कविताओं की मूल संवेदना क्या है ? प्रेम कविताएं क्यों लिखते हैं आप ?

उत्तर : क्योंकि मैं प्रेम करता हूं ।

o

उत्तर-कथ्य

`थोड़ी सी जगह` की कविताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये समय के पार जाती हुई प्रेम कविताएं हैं। अशोक वाजपेयी ने सहजता के साथ प्रेम के जिन विभिन्न भावरूपों की अभिव्यक्ति की है, वही उनको समकालीन हिन्दी कविता में प्रेम के एक समर्थ कवि के रूप में प्रतिष्ठित करता है। प्रेम की नैतिकतावादी सीमित, संकीर्ण चाहरदीवारी के बाहर जाकर अशोक छायावादी रोमान को लगभग अस्वीकार करते हुए सौन्दर्य एवं रति के अधुनातन चित्र उपस्थित करते हैं और इसी बहाने जीवन-संबंधों के एक महत्वपूर्ण आधार को प्रेम में प्रतिष्ठित करते हैं। यद्यपि इस प्रयास की चरमता में वे कभी-कभी सतही और सपाट हो जाते हैं, फिर भी जीवन की एक आवश्यक क्रिया के रूप में प्रेम वहां उपस्थित रहता है। अशोक की प्रेम कविताएं सुख का विधान रचती हुई प्रेम-कविताएं हैं, जिनमें प्रकृति, रति, नश्वरता, जीवन सौन्दर्य आदि तत्व अपने `खुलेपन` में प्रदर्शित होते हैं, परन्तु कविता की केन्द्रीय परिकल्पना देह से होकर प्रेम की यात्रा करना ही है।

मूल रूप में इन कविताओं में प्रेम केजिस स्वरूप की अभिव्यंजना कवि करता है, वह अपनी संरचना में सूक्ष्म, परन्तु संप्रेषणीय है। यही कारण है कि बहुत सारे बिम्ब, प्रतीक जो वास्तविक दुनिया के धरातल से दूर लाते हैं, कविता में उतर कर बहुत निकट से गुजरते हुए किसी आत्मीय संवाद की प्रक्रिया में संलग्न रहते हैं। इसीलिए रति और संभोग जैसी स्थितियां भी मन में उद्दाम वासनात्मक अनुभूतियों की गूंजें नहीं बिखेर पातीं, बल्कि वे सदैव एक पवित्रता के आलोक में सिमटी जान पड़ती हैं। कहना न होगा कि यह संभावना उत्कृष्ट शिल्प और तत्सम् भाषा विधान के द्वारा ही संभव होता है। न तो यह सिर्फ भोग की कविताएं हैं और न ही इन्हें एक स्थूल भोगवादी आख्यान की तरह पढ़ा जाना चाहिए, इनमें रति की प्रधानता है और रति भोग से बहुत आगे जाकर काम-कला की समग्रता को प्रस्तुत करती है। रति और दैहिक दिव्यता के साथ ही साथ इनमें नश्वरता, अनुपस्थिति अथवा मृत्यु का सहज

प्रत्याख्यान भी है ।

यह ठीक है कि सामाजिकता जैसे रूढ़ अर्थ की संवेदना का कोई लंबा-चौड़ा विधान अशोक की प्रेम कविताएं नहीं रचती हैं और न ही किसी समकालीन सामाजिक विचारधारा के झण्डे उठाए ये कविताएं चलती हैं, फिर भी ये जीवन जैसे महत्वपूर्ण सामाजिक इकाई की सूक्ष्म अनुभूतियों की लयवत्ता से भरी हुई गहरे स्तर पर जाकर छानबीन करती हैं और इस तरह अपने होने का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं । अपनी संरचना में ये कविताएं जीवन में प्रेम अथवा प्रेम में जीवन की अभिव्यक्ति का एक नया मार्ग तलाशती हैं । कवि के आत्मसंघर्ष एवं आत्मसाक्षात्कार की भावाभिव्यक्तियों का जरूरी तरीके से विश्लेषण करती कविताएं निजत्व की पहचान से आक्रान्त होती हुई भी प्रेम के लिए एक चिन्ता अथवा व्यग्रता का ही प्रदर्शन करती हैं । रति एवं प्रेम के द्वारा जीवन की सुखद रंगतों से जुड़ कर एक व्यापक सृष्टि की स्थापना इन कविताओं का मुख्य धर्म है ।

'थोड़ी सी जगह' का महत्व इसीलिए भी है कि इस रागविहीन और निर्मम होते जा रहे समय में भी प्रेम जैसी गहरी अनुभूति को कविता के मैदान में बहुत सारे खतरे उठाकर भी यह प्रतिष्ठित करती है । किसी अनुभूति के आरंभ, यानी संवेदन बिंदु से अनुभूति तक और फिर अनुभूति से अनुभव में रूपान्तरितहोने तक के सारे सरोकार महीनता से यहां उपस्थित हुए हैं ।

अंत में यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रेम में नैतिकता जैसी हर धारा को लगभग अस्वीकार करती हुयी अशोक की कविताएं प्रेम के सारे सोपानों को (रति एवं काम सहित) स्पर्श करती हैं और अपनी अदम्य जिजीविषा से जो कुछ भी ले आती हैं, वह प्रेम को एक गुप्त और अनुभवातीत भाव ही नहीं रहने देता, बल्कि उसे बहुत आगे तक ले जा कर जीवन की रागात्मकता से जोड़ता हुआ प्रेम के एक व्यापक लोक की सृष्टि करता है । कवि की मूल परिकल्पना भी यही है ।

0

ग्रंथानुक्रमणिका

आधार ग्रन्थ

1. अशोक वाजपेयी - थोड़ी सी जगह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994
2. अशोक वाजपेयी - तिनका-तिनका, प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1996
3. अशोक वाजपेयी - घास में दुबका आकाश, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994

संदर्भ ग्रन्थ

1. अशोक वाजपेयी - फिलहाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1970
2. अज्ञेय - अरी ओ करुणा प्रभामय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, संस्करण - 1980
3. अज्ञेय - सं0 तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सं0 - 1979
4. अज्ञेय - बावरा अहेरी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण 1989
5. अज्ञेय - ऐम्बरा (कवि दृष्टि में संकलित) लोकभारती इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1983
6. अज्ञेय - हरी घास पर क्षण भर, प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली, नई प्रथम संस्करण 1949
7. अज्ञेय - सदानीरा - एक, नेशनल पब्लिशिंग हाउसस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1986
8. अज्ञेय - भवन्ती, राजपाल एंड संस, दिल्ली - 1972

9. आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण - छब्बीसवां, सं0 2049

10. आचार्य रामचंद्र शुक्ल - चिन्तामणि - भाग दो, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं0 2035

11. केदारनाथ सिंह - आधुनिक हिन्दी कविता में बिंब विधान, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं0 1971

12. जैनेन्द्र कुमार - काम, प्रेम, परिवार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, पंचम सं0 1982

13. डा0 देवराज - छायावाद, उत्थान, पतन, पुनर्मूल्यांकन, कल्पकार प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम सं0 1975

14. जयशंकर प्रसाद - कामायनी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1994

15. जयशंकर प्रसाद - आंसू, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1994

16. नामवर सिंह - छायावाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठां संस्करण 1991

17. नामवर सिंह - सं0 प्रतिनिधि कविताएं (शमशेर बहादुर सिंह) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990

18. नामवर सिंह - कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, पंचम संस्करण

19. आ0 परशुराम चतुर्वेदी - हिन्दी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1952

20. नगेन्द्र (डा0) - हिन्दी साहित्य का इतिहास, नैशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, संस्करण 1985

21. निराला - रागविराग (सं0 रामविलास शर्मा) लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तेरहवां संस्करण, 1988

22. धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड (वाराणसी), द्वितीय सं. संवत् 20

23. फुलवंत कौर - अज्ञेय काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982

24. भगवतीचरण वर्मा - मधुकण, साहित्य केन्द्र, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1957

25. मलयज - कविता से साक्षात्कार, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण, 1979

26. मैनेजर पाण्डेय (डा0) - भक्ति आन्दोलन एवं सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1993

27. मदन सोनी - विषयान्तर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1995

28. रामस्वरूप चतुर्वेदी - प्रसाद, अज्ञेय, निराला, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

29. डा0 रघुवंश - प्रकृति और काव्य, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1963

30. रामकमल राय - हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य, लोक भारती इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1981

31. रामस्वरूप चतुर्वेदी - काव्य भाषा पर तीन निबन्ध, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1981

32. राजेन्द्र प्रसाद - अज्ञेय, कवि और काव्य, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1978

33. रमेश कुंतल मेघ - अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1977

34. विष्णु चन्द्र शर्मा - कालसे होड़ लेता कवि शमशेर, हंसा प्रकाशन, जयपुर, सं0 1994

35. शंभुनाथ चतुर्वेदी - आधुनिक कविता की यात्रा

36. संजय कुमार - अज्ञेय : प्रकृति काव्य - काव्य प्रकृति
वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985

37. सुमन राजे - सातवें दशक की कविता का शब्द विधान, पुस्तक संस्थान कानपुर, प्रथम संस्करण, 1978

38. सूरदास - सूरसागर

39. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - प्रतिनिधि कविताएं (सं० प्रयाग शुक्ल)
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, तृतीय सं० 1983

40. हरिवंश राय बच्चन - अभिनव सोपान बच्चन, राजपाल एंड संज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1964

41. सुमित्रानंदन पंत - गुंजन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (प्रथम लोकभारती संस्करण 1992

संस्कृत ग्रन्थ

1. कुमारसंभवम् - कालिदास

2. गीत गोविन्दम् - जयदेव

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. क्रिस्टोफर कॉडवेल : स्टडिंग इन डाइंग कल्चर, करंट बुक डिस्ट्रीब्यूशन्स, लंदन

2. सुधीर कक्कड़, जान एम. रॉस : टेल्स ऑफ लव, सेक्स एंड डेंजर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1992

हैवलाक एलिस : सायकोलॉजी आफ सेक्स, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1936

इलहॉम डिलमैन : लव एंड ह्यूमन सेपरेटनेस, यूनिवर्सल बुक डिस्ट्रीब्यूशन्स, ऑक्सफोर्ड 1987

पत्र

1. जनसत्ता : दिल्ली, दैनिक

2. द टाईम्स आफ इंडिया : दिल्ली, दैनिक

3. द पायनियर : दिल्ली, दैनिक
4. नवभारत टाईम्स : दिल्ली, दैनिक
5. नई दुनिया : इंदौर, दैनिक
6. राष्ट्रीय सहारा : दिल्ली, दैनिक

पत्रिकाएं

1. साक्षात्कार : सं0 सोमदत्त, भोपाल
2. साक्षात्कार : सं0 प्रभात त्रिपाठी, भोपाल
3. साक्षात्कार : सं0 ध्रुव शुक्ल, भोपाल
4. समकालीन भारतीय साहित्य - सं0 गिरिधर राठी, दिल्ली
5. समीक्षा : सं0 डा0 गोपाल राय, दिल्ली
6. साखी : सं0 केदार नाथ सिंह, परमानंद श्रीवास्तव, दिल्ली
7. संभवा : सं0 ध्रुवनारायण गुप्त, भागलपुर
8. इंडिया टूडे (हिन्दी) : नई दिल्ली
9. कथादेश : सं0 हरिनारायण, दिल्ली
10. नई कविता : सं0 जगदीश गुप्त, इलाहाबाद
11. कल्पना : सं0 बदरीविशाल पित्ती, मधुसूदन चतुर्वेदी, हैदराबाद
12. माया : सं0 आलोक मित्र, इलाहाबाद
13. यावत् : सं0 अशोक शाह, जगदलपुर (म0 प्र0)
14. पूर्वग्रह : सं0 अशोक वाजपेयी, भोपाल
15. दस्तावेज : सं0 विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, गोरखपुर

0